

# निबंध प्रभा

पाठ्य-पुस्तक

बी.सी.ए./ बी.एस.सी.(FAD)

B.C.A/ B.Sc (FAD)

(Language under AECC)

प्रथम सेमिस्टर/ I Semester

संपादक

डॉ. रोहिणी बाई. एस.

डॉ. फरियाल शेख

प्रकाशक

प्रसारांग

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय

बेंगलूरु — 560 001

**Nibandh Prabha:** Edited by Dr. Rohini Bai S and Dr. Fariyal Shaikh; Published by Prasaranga, Bangalore City University, Bengaluru-560 001

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण 2021

प्रधान संपादक

डॉ. शेखर

प्रकाशक

प्रसारांग

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय

बेंगलूरु—560 001

## भूमिका

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय में 2021–22 शैक्षिक वर्ष से एन.ई.पी.2020 पद्धति के अनुसार स्नतक वर्गों के लिए नया पाठ्यक्रम जारी किया जा रहा है।

इस पाठ्यक्रम की संरचना ऐसी की गई है कि इसके अध्ययन के पश्चात् हिंदी साहित्य के विद्यार्थी यह जान सकें कि साहित्य का विश्लेषण कैसे किया जाए, उसकी सराहना कैसी की जाए और दिए गए पाठ को पढ़ने की समझ किस प्रकार विकसित की जाए ताकि विद्यार्थी भाषा और साहित्य के उद्देश्य से भली भाँति परिचित हो सकें। जैसे विज्ञान आदि विषयों के अध्ययन के साथ यह भी अधिक उपयोगी है। एन.ई.पी. सेमिस्टर पद्धति के अनुसार पाठ्यक्रम निर्माण किया गया है।

इस पृष्ठभूमि में हिन्दी-अध्ययन-मण्डल ने विभागाध्यक्ष डॉ.शेखर के मार्गदर्शन में पाठ्य-पुस्तक का निर्माण किया है।

विश्वास है कि यह निबंध संकलन छात्र समुदाय के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। विश्वविद्यालय की यह शुभेच्छा है कि साहित्य और समाजशास्त्री विषयों के लिए भी अधिक उपयोगी और प्रासंगिक लगे। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में योग देने वाले सभी के प्रति विश्वविद्यालय आभारी है।

डॉ. लिंगराज गाँधी  
कुलपति  
बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय  
बेंगलूरु-560 001

प्रधान संपादक की कलम से.....

बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय शैक्षिक क्षेत्र में नये-नये विषयों को अपने अध्ययन की सीमा में ले रहा है। अध्ययन को नयी राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के अनुसार प्रस्तुति करने का प्रयत्न हो रहा है। साहित्यिक विषयों को आज की बदलती परिस्थिति के अनुसार रखने के उद्देश्य से पाठ्यक्रम को प्रस्तुत किया जा रहा है।

एन.ई.पी. सेमिस्टर पद्धति के अनुसार स्नातक वर्गों के लिए पाठ्यक्रम का निर्माण किया जा रहा है। इस पाठ्य पुस्तक के निर्माण में योग देने वाले सम्पादकों के प्रति मैं आभारी हूँ।

इस नयी पाठ्य पुस्तक के निर्माण में कुलपति महोदय डॉ. लिंगराज गाँधी जी ने अत्यधिक प्रोत्साहन दिया, तदर्थ मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ।

डॉ. शेखर  
अध्यक्ष (बी.ओ.एस.)  
बेंगलूरु नगर विश्वविद्यालय  
बेंगलूरु-560 001

## अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	पृ.सं.
1	मानसिक पराधीनता (भावात्मक निबंध) - प्रेमचन्द	01
2	हिम्मत और जिन्दगी (भावात्मक निबंध) - रामधारी सिंह दिनकर	12
3	बुद्धदेव (आलोचनात्मक निबंध) - रवीन्द्रनाथ ठाकुर	18
4	गप—शप (वर्णनात्मक निबंध) - नामवर सिंह	29
5	मेरे राम का मुकुट भीग रहा है (विमर्शात्मक निबंध) - विद्यानिवास मिश्र	36
6	समस्या (मौलिक निबंध) - महावीर प्रसाद द्विवेदी	43
7	भारतीय संस्कृति (विचारात्मक निबंध) - राजेन्द्र प्रसाद	53
8	मित्रता (विचारात्मक निबंध) - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	62

## 1. मानसिक पराधीनता

लेखक परिचय:— प्रेमचन्द जी का जन्म वारणासी के निकट लमही गाँव में 31 जुलाई 1880 में हुआ था। उनकी शिक्षा उर्दू, फारसी में हुई और जीवनयापन का अध्यापन से पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही लग गया। मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी। उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फारसी और इतिहास में इंटर पास किया और 1919 में बी.ए. पास करने के बाद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए। बीसवी शती के पूर्वार्द्ध में, जब हिन्दी में तकनीकी सुविधाओं का अभाव था, उनका योगदान अतुलनीय है। प्रेमचन्द के बाद जिन लोगों ने साहित्य को सामाजिक सरोकारों और प्रगतिशील मूल्यों के साथ आगे बढ़ाने का काम किया, उनमें यशपाल से लेकर मुक्तिबोध तक शामिल है। उनके पुत्र हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अमृतराय हैं जिन्होंने इन्हें 'कलम का सिपाही' नाम दिया था।

प्रेमचन्द आधुनिक हिन्दी कहानी के पितामह और सम्राट माने जाते हैं। उनकी पहली हिन्दी कहानी सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई। प्रेमचन्द ने करीब तीन सौ कहानियाँ, लगभग एक दर्जन उपन्यास और कई लेख लिखे। उन्होंने कुछ नाटक भी लिखे और कुछ अनुवाद कार्य भी किया। प्रेमचन्द के कई साहित्यिक कृतियों का अनूदित देशी, विदेशी भाषाओं में हुआ। 'गोदान' उनकी कालजयी रचना है। 'कफन' उनकी अंतिम कहानी मानी जाती है।

जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उनका उपन्यास मंगलसूत्र पूरा नहीं हो सका और लम्बी बीमारी से 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया।

.....

हम दैहिक पराधीनता से मुक्त होना तो चाहते हैं; पर मानसिक पराधीनता में अपने-आपको स्वेच्छा से जकड़ते जा रहे हैं। किसी राष्ट्र या जाति का सबसे बहुमूल्य अंग क्या है ? उसकी भाषा, उसकी सभ्यता, उसके विचार, उसका कलचर। यही कलचर हिन्दू को हिन्दू, मुसलमान को मुसलमान और ईसाई को ईसाई बनाये हुए है। मुसलमान इसी कलचर की रक्षा के लिए हिन्दुओं से अलग रहना चाहता है, उसे भय है, कि सम्मिश्रण से कहीं उसके कलचर का रूप ही विकृत न हो जाय। इसी तरह हिन्दू भी अपने कलचर की रक्षा करना चाहता है ; लेकिन क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, दोनों अपने कलचर की रक्षा की दुहाई देते हुए भी उसी कलचर का गला घोटने पर तुले हुए हैं।

कलचर (सभ्यता और परिष्कृति) एक व्यापक शब्द है। हमारे धार्मिक विचार, हमारी सामाजिक रूढ़ियाँ, हमारे राजनैतिक सिद्धान्त, हमारी भाषा और साहित्य, हमारा रहन-सहन, हमारे आचार-व्यवहार, सब हमारे कलचर के अंग हैं; पर आज हम कितनी बेदर्दी से इसी कलचर की जड़ काट रहे हैं। पश्चिमवालों को शक्तिशाली देखकर हम इस भ्रम में पड़ गये हैं कि हममें सिर से पाँव तक दोष ही दोष हैं, और उनमें सिर से पाँव तक गुण ही गुण हैं। इस अन्धभक्ति में हमें उनके दोष भी गुण मालूम होते हैं और अपने गुण भी दोष। भाषा ही को ले लीजिए। आज अंग्रेज़ी हमारे सभ्य-समाज की व्यावहारिक भाषा बनी हुई है। सरकारी

भाषा तो वह है ही, दफ्तरों में तो हमें अंग्रेजी में करना ही पड़ता है; पर उस भाषा की सत्ता के हम ऐसे भक्त हो गये हैं कि निजी चिट्ठियों में, घर की बातचीत में भी उसी भाषा का आश्रय लेते हैं। स्त्री पुरुष को अंग्रेजी में पत्र लिखती है, पिता पुत्र को अंग्रेजी में पत्र लिखता है। दो मित्र मिलते हैं, तो अंग्रेजी में वार्तालाप करते हैं, कोई सभा होती है, तो अंग्रेजी में। डायरी अंग्रेजी में लिखी जाती है। वाह! क्या भाषा है! क्या लोच है! कितनी मार्मिकता है, विचारों को व्यंजित करने की कितनी शक्ति, शब्द—भंडार कितना विशाल, साहित्य कितना बहुमूल्य, कितना परिष्कृत, कविता कितनी मर्मस्पर्शिणी, गद्य कितना अर्थबोधक ! जिसे देखो अंग्रेजी जबान पर लट्टू, उसके नाम पर कुर्बान है। यहाँ तक कि हमारी योग्यता और विद्वत्ता की यही एक परख हो गयी है कि हम अंग्रेजी बोलने या लिखने में कितने कुशल हैं। आठवें क्लास से अंग्रेजी के मुहावरों की रटन शुरू हो जाती है, पर्यायों के सूक्ष्म अर्थभेद पर विचार होने लगता है, अपनी अंग्रेजी वक्तृता में अंग्रेजों को ऐक्सेंट और उच्चारण कैसे लायें, इस प्रयत्न में जान खपा दी जाती है। अगर किसी स्वर का उच्चारण अंग्रेजों से उनके मौखिक गठन के दोषों के कारण नहीं होता, तो हम भी अपने में वही बात पैदा करेंगे। आज तक 'The' जैसे साधारण शब्द का भी ठीक उच्चारण—जो अंग्रेजों को भी जँचे—बहुत कम लोग कर सकते हैं और हमारी यह मनोवृत्ति राष्ट्रीय भावों के साथ ही साथ बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि अंग्रेजी ही पठित—समाज की भाषा बन गयी है। अपनी भाषा में बात—चीत करते समय कभी—कभी एकाध अंग्रेजी शब्द आ जाने को तो हम मुआफी के काबिल समझते हैं; लेकिन दुःख तो यह है, कि ऐसे सज्जनों की भी कमी नहीं है, जो बहुत थोड़ी—सी अंग्रेजी जानकर



भी अंग्रेज़ी में ही अपनी योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। अंग्रेज़ स्वप्न में भी किसी अंग्रेज़ से ग़ैर अंग्रेज़ी भाषा में न बोलेगा; मगर यहाँ हम आपस में ही अंग्रेज़ी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। मैं उस मनोवृत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता, जो एक ही भाषा—भाषियों को अंग्रेज़ी में बातें करने की प्रेरणा करती है। किसी मदरासी, बंगाली या चीनी से तो अंग्रेज़ी में बातें करने का कोई अर्थ हो सकता है। उनसे बातें करनी जरूरी है और इस वक्त और कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं, जिसका सभी प्रांतवालों का एक—सा ज्ञान हो; मगर एक ही प्रांत के रहनेवाले, एक ही भाषा के बोलनेवाले, क्यों आपस में अंग्रेज़ी बोलें, क्यों अंग्रेज़ी में पत्र लिखें, क्यों 'प्रणाम' या 'नमस्कार' या 'वंदे' या 'नमस्ते' या 'तस्लीम' करने के बदले "मार्निंग, मार्निंग" कहें, यह मेरी समझ में नहीं आता। क्यों 'हलो' ही मुँह से निकले, मैं इसकी कल्पना नहीं कर सकता। संसार में ऐसे प्राणियों की कमी नहीं है, जो मँगनी की चीज़ों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीज़ों का व्यवहार करके भी सिर उठाकर चलते हैं। उन्हें यही खुशी है, कि लोग मुझे इन चीज़ों का स्वामी समझते होंगे। अंग्रेज़ी का व्यवहार करनेवालों की मनोवृत्ति भी कुछ इसी तरह की होती है। या तो उनका अभिप्राय यह होता है, कि देखें हम दोनों में कौन अच्छी अंग्रेज़ी बोलता है, या यह कि देखो, हम जितनी सफ़ाई से अंग्रेज़ी बोलते हैं, तुममें वह सफ़ाई नहीं है। और इसका परिणाम यह होता है, कि अच्छी अंग्रेज़ी लिखनी और बोलनी तो आ जाती है; पर अपनी भाषा भूल जाती है, या हेय और तुच्छ समझकर भुला दी जाती है। यह हमारे शिक्षित—समुदाय की लज्जाजनक ही नहीं, शोकजनक मानसिक दासता है।

फ़्राँसीसी कवि फ्रेंच में कविता करता है, जर्मन, जर्मन में, रूसी रशियन में, कम से कम जिन रचनाओं पर उसे गर्व होता है, वह अपनी ही भाषा में करता है; लेकिन हमारे यहाँ के सारे कवि और सारे लेखक अंग्रेज़ी में लिखने लगें, अगर केवल कोई प्रकाशक उनकी रचनाओं को छापने पर तैयार हो जाय! जिन्हें प्रकाशक मिल जाते हैं, वह चूकते भी नहीं, चाहे अंग्रेज़ आलोचक उनका मज़ाक ही क्यों न उड़ायें; मगर वह खुश है।

हम मानते हैं, कि अंग्रेज़ी भाषा प्रौढ़ है, हरेक प्रकार के भावों को आसानी से ज़ाहिर कर सकती है और भारतीय भाषाओं में अभी वह बात नहीं आयी; लेकिन जब वही लोग, जिन पर भाषा के निर्माण और विकास का दायित्व है, दूसरी भाषा के उपासक हो जावें, तो उनकी अपनी भाषा का भविष्य भी तो शून्य हो जाता है। फिर क्या विदेशी साहित्य की नींव पर आप भारतीय राष्ट्रियता की दीवार खड़ी करेंगे? यह हिमाकत है। आज हमारा पठित—समाज साधारण जनता से पृथक् हो गया है। उसका रहन—सहन, उसकी बोल—चाल, उसकी वेष—भूषा, सभी उसे साधारण समाज से अलग कर रहे हैं। शायद वह अपने दिल में फूला नहीं समाता, कि हम कितने विशिष्ट हैं। शायद वह जनता को नीच और गँवार समझता है; लेकिन वह खुद जनता की नजरों से गिर गया है। जनता उससे प्रभावित नहीं होती, उसे किरंटा या 'बिगडैल' या 'साहब बहादुर' कहकर उसका बहिष्कार करती है और आज खुदा न खासता वह किसी अंग्रेज़ के हाथों पिट रहा हो, तो लोग उसकी दुर्गती का मजा उठावेंगे, कोई उसके पास भी न फटकेगा। ज़रा इस गुलामी को देखिए, कि हमारे विद्यालयों में हिन्दी या उर्दू भी अंग्रेज़ी द्वारा पढ़ायी जाती है। अगर बेचारा हिन्दी—प्रोफ़सर अंग्रेज़ी

में लेक्चर न दे, तो छात्र उसे नालायक समझते हैं। आदमी के मुख में कलंक लग जाय तो वह शर्माता है, उस कलंक को छिपाता है, कम से कम उस पर गर्व नहीं करता; पर हम अपनी दासता के कलंक को दिखाते फिरते हैं, उसकी नुमाइश करते हैं, उस पर अभिमान करते हैं, मानो वह नेकनामी का तमगा हो, या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वह री भारतीय दासता, तेरी बलिहारी है।

भाषा को छोड़िए, वेष—भूषा पर आइए। आप उन साहब बहादुर को देख रहे हैं, जो हैट—कैट लगाये, ग़रूर से इधर—उधर देखते चले जा रहे हैं। यह हमारे हिन्दुस्तानी योरोपियन हैं। रास्ते से हट जाओ, साहब बहादुर आते हैं! साहब को सलाम करो, आप पूरे साहब बहादुर हैं! मुझे तो आप सिर से पाँव तक गुलाम नज़र आते हैं, जो अपनी गुलामी का उसी बेशर्मी से प्रदर्शन कर रहे हैं, जैसे कोई वेश्या अपने हाव—भाव का। आपमें आत्मबल अवश्य है, बड़े ऊँचे दरजे का आत्मगौरव, आप लोक—मत को टुकरा देते हैं, किसी के नाक—भौं सिकोड़ने की परवा नहीं करते, जो अपने स्वार्थ के लिए उपयोगी या अपनी मनोतुष्टि के लिए वांछनीय समझते हैं, वह अवाध्य रूप से करते हैं। क्यों लोकमत का आदर करें। लोकमत के गुलाम नहीं; लेकिन उसी आत्मगौरव के पुतले से कहिए, कि ज़रा शाम को बिना फ़ेल्टकैप लगाये किसी अंग्रेज़ी—क्लब में चला जाय, तो उसके हाथ—पाँव फूल जायेंगे, खून ठण्डा हो जायेगा; चेहरा फक़ हो जायेगा। क्यों? इसलिए कि उसका आत्म—गौरव केवल अपने भाइयों पर रोब जमाने के लिए है, उसमें सार का नाम नहीं। वह जिस समाज में मिलना चाहता है, उसकी छोटी से छोटी रूढ़ियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। जनता को वह समझता है, हमारा कर ही क्या लेगी, यह

खुश रहे तो क्या, और नाराज रहे तो क्या, यह हमारा कुछ बना—बिगाड़ नहीं सकती। जिनसे कुछ बनने—बिगड़ने का भय है उनके सामने वह भीगी बिल्ली बन जाता है। अपने एक मित्र साहब बहादुर से मैंने पूछा—तुम इस ठाठ से क्यों रहते हो, तो बड़े दार्शनिक भाव से बोले—इसलिए कि अंग्रेजों से मिलने जाता हूँ, तो जूते बाहर नहीं उतारने पड़ते। जो लोग अचकन और टोपी पहनकर जाते हैं, उन्हें जूते उतार देने पड़ते हैं। मैं कहता हूँ, जो स्वार्थ लेकर अंग्रेजों से मिलने नहीं जाते, वह अचकन नहीं, मिर्जई भी पहने हों, तो उन्हें जूते उतारने की जरूरत नहीं और जो स्वार्थ लेकर जाते हैं, वह किसी वेष में हों, उनकी आत्मा दबी रहती है। ऐसे प्राणियों की दशा उस आदमी की सी है, जो अपने कपड़े पर एक दाग को छिपाने के लिए सारा कपड़ा ही काला रंग ले। अगर स्वार्थ मजबूर कर रहा हो, तो मेरे विचार में तो जूते उतार देना इससे कहीं अच्छा है, कि हम उस अपमान से बचने के लिए बेहयाई का एक अपराध और अपने सिर पर लें। यह मत समझो, कि अंग्रेज तुम्हारा कोट—पैट देखकर तुम्हारा ज्यादा आदर करता है। और अगर ऐसा हो भी, तो अपना वेष छोड़कर उस आदर को लेना, एक प्याले शोरबे के लिए अपने जन्म—सिद्ध गौरव को बेचना है। एक दूसरे मित्र से यही प्रश्न किया, तो बोले—इससे सफर करने में बड़ा सुभीता होता है, जनता समझती है यह कोई साहब हैं, मेरे डब्बे में नहीं आती। एक और साहब ने कहा— अंग्रेजी कपड़े पहनने से देह में बड़ी चुस्ती और फुरती आ जाती है। गरज, लोग तरह—तरह की दलीलों से आपका समाधान कर देंगे। मैं पूछता हूँ—क्यों साहब, क्या सारी चुस्ती और फुरती अंग्रेजी कपड़ों में ही है ? क्या यह कोई तिलिस्माती चीज़ है, कि बदन पर आयी और आपकी देह में स्फूर्ति दौड़ी। यह दलीलें लगे और

लचर है। हाँ, इस तर्क में अवश्य सार है, कि जब सारा—संसार योरोपिय वेष के पीछे जा रहा है, तो आप उससे अलग कैसे जा सकते हैं। दूसरी दलील यह हो सकती है, कि हमारा कोई जातीय परिधान भी तो नहीं है। भिन्न—भिन्न प्रांतीय परिधानों की अपेक्षा तो एक सार्वदैशिक योरोपीय परिधान का होना कहीं अच्छा है। बेशक यह टेढ़ा प्रश्न है। यह बात भी विचारणीय है, कि अन्य देशों में अमीर—गरीब सबका पहनावा एक ही है, चाहे उसके कपड़े में कितना ही अन्तर हो। आपके यहाँ किसान मिर्ज़ई या नीमआस्तीन या कुर्ता—धोती पहनता है, कहीं शलवर है, कहीं पगड़ी, कहीं जाँघिया। पहले एक जातीय ठाठ की सृष्टि तो कर लीजिए, फिर विलायती पहनावे पर आक्षेप कीजिएगा। भाषा ही की भाँति एक जातीय पहनावा भी बरसों के बाद कहीं जाकर आविर्भूत होता है, किसी संस्था या नीति—द्वारा उसकी सृष्टि नहीं की जा सकती। अभी भारत को एक सार्वदैशिक परिधान के लिए बहुत दिनों तक इन्तजार करना पड़ेगा; मगर जब तक वह समय नहीं आता, तब तक के लिए हमारे विचार में इस नीति को सामने रखना चाहिए, कि यथासाध्य जनरूचि का सम्मान किया जाय। अगर किसी प्रान्त में जनता कोट पहनती है, तो वहाँ के लिए कोट—पतलून ही उपयुक्त है। इसी भाँति जिन प्रान्तों में साधारण जनता कुरता और धोती पहनती है, वहाँ कुरता और धोती को ही जातीय परिधान के पद पर सम्मानित करना चाहिए। अभिप्राय केवल यह है, कि शिक्षित—समाज केवल अपनी विशिष्टता या प्रभुत्व जताने के लिए ऐसी वेष—भूषा का व्यवहार न करे जिसमें विदेशीपन की झलक आती हो। हो सकता है, कि कुछ लोगों को अंग्रेज़ों वेष में रहने पर भी जरा अभिमान या स्वार्थ—सिद्धि की भावना न हो; पर दुर्भाग्यवश यह विदेशों वेष जनता की आँखों में

खटकता है और इसे धारण करनेवाले चाहे देवता ही क्यों न हों, वे स्वजाति के द्रोही और शासक जाति के अनन्य भक्त के रूप में नजर आते हैं। संभव है, स्वाधीन हो जाने पर यही हमारा स्वजातीय वेष हो जाय; लेकिन तब इसमें वह कुसंस्कार न रहेंगे, जिन्होंने इस वक्त इसे इतना अवहेलनीय बना रक्खा है। ज़रा सोचिए, क्या यह एक पढ़े-लिखे व्यक्ति को शोभा देता है, कि वह अपना रहन-सहन ऐसा बना ले कि जनता उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखने के बदले घृणा या भय की दृष्टि से देखें। किसी समय जनरुचि को पद-दलित करने का नतीजा बुरा भी हो सकता है और यह तो स्पष्ट ही है कि अगर जनता के हाथों में प्रभुत्व होता, तो बहुत से अंग्रेज़ी वेष के प्रेमी यह वेष धारण करने के पहले ज्यादा विचार से काम लेना आवश्यक समझते; मगर हमारी यह मनोवृत्ति भाषा और वेष तक ही रहती, तो अधिक चिंता की बात न थी। इसने हमारे कितने और सामाजिक विचारों पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है और अभी से रोक-थाम न की गयी, तो एक दिन हमारी जातीय संस्कृति ही का लोप हो जायेगा। यह एक साधारण-सी बात है, कि पराधीन जाति को अपने में सारी बुराइयाँ और राज्य करनेवाली जाति में भलाइयाँ ही भलाइयाँ नजर आती हैं। हमारी सभ्यता कहती है—अपनी जरूरतों को मत बढ़ाओं, ताकि तुम्हारी जात से कुटुम्ब और परिवार का भी कुछ उपकार हो। पश्चिमी सभ्यता का आदर्श है—अपनी जरूरतों को खूब बढ़ाओं, चाहे उसके लिए दूसरों की जेब ही क्यों न काटनी पड़े। अपने ही लिए जियो और अपने ही लिए मरो। हमारी सभ्यता कृषि-प्रधान थी, हम गाँवों में रहते थे, जहाँ अपने आत्मीयजनों का संसर्ग बहुत-सी बुराइयों से हमारी रक्षा करता था। पश्चिमी सभ्यता व्यवसाय-प्रधान है और बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करती है, जहाँ

हम सारे बंधनों से मुक्त होकर दुराचरण में पड़ जाते हैं। हमारी सभ्यता में सम्मिलित—कुटुम्ब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है—केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में बुराइयाँ और भलाइयाँ, दोनों ही हैं; पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है, वहाँ दूसरे में स्वार्थ और संकीर्णता। हमारी सभ्यता में नम्रता का बड़ा महत्व था, पश्चिमी सभ्यता में आत्मप्रशंसा को वही स्थान—प्राप्त है। अपने को खूब सराहो, अपने मुँह खूब मियाँ—मिट्टू बनो। हमारी सभ्यता में धन का स्थान गौण था, विद्या और आचरण से आदर मिलता था। पश्चिमी सभ्यता में धन नहीं मुख्य वस्तु है। हम भी धन कमाते थे; पर दया के साथ। पश्चिम भी धन कमाता है; पर दया का नाम नहीं। हमारी सभ्यता का आधार धर्म था, पश्चिमी सभ्यता का आधार संघर्ष है।

लेकिन यहाँ हम अपने सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करने बैठे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आँखें बंद करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में भी रोग थे; मगर उसकी दवा योरोपीय सभ्यता की अंधभक्ति नहीं है। उसकी दवा हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी। योरोपीय सभ्यता की नकल करके हमें अपने यहाँ भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा, जो योरोप कर रहा है। योरोप पथभ्रष्ट है, उसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं और आज योरोप के विचारवान् लोग कह रहे हैं, कि यह संस्कृति अब विध्वंस के गर्त में जानेवाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नकल करके अपनी संस्कृति को भी विध्वंस के गर्त में ढकेलने की तैयारी करें ? यह समझ लीजिए कि यह राजनीतिक परिस्थिति नहीं रहेगी; पर इस परिस्थिति में हमने अपने अस्तित्व को खो दिया, अपने धर्म की

सत्ता खो दी, अपनी संस्कृति को खो बैठे, तो हमारा अंत हो जायेगा।

.....



## 2. हिम्मत और जिन्दगी

**लेखक परिचय :-**रामधारी सिंह दिनकर का जन्म बिहार के बेगूसराय जिला के सिमरिया गाँव में 1908 में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा गाँव में हुई। पटना विश्वविद्यालय से बी.ए. किया। घर की आर्थिक स्थिति अच्छी ना होने के कारण कई जगह पर नौकरियाँ करनी पड़ी। सबसे पहले हाई स्कूल में शिक्षक नियुक्त हुए फिर आगे चलकर बिहार सरकार में सब रजिस्ट्रार, उपनिदेशक और 1950 में बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर में हिन्दी विभाग के आचार्य पद पर आसिन रहे।

1952 से 1963 तक रामधारी सिंह दिनकर राज्यसभा के सदस्य रहे। केन्द्रिय गृह मंत्रालय में हिन्दी सलाहकार भी रहें। “संस्कृति के चार अध्याय” पुस्तक पर साहित्य अकादमी पुरस्कार और उर्वशी पर ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हुआ। दिनकर छायावादोत्तर कविता के प्रतिनिधि कवियों में से एक है। दिनकर की रचनाओं में साम्राज्यवाद और सामंतवाद की अमानवीयता के प्रति क्षोभ एवं विरोध का भाव दृष्टिगोचर होता है। राष्ट्र-प्रेम, स्वतंत्रता, संघर्ष और भारतीय जनता के दुख-दर्द उनकी कविताओं के विषय है।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं— रेणुका, हुंकार, रसवन्ती, कुरुक्षेत्र, रश्मि रथी, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा (काव्यग्रंथ) मिट्टी क ओर, रेती के फूल, काव्य की भूमिका, शुद्धकविता की खोज (आलोचना)संस्कृति के चार अध्याय (इतिहास)।

.....

जिन्दगी के असली मजे उनके लिए नहीं हैं, जो फूलों की छाँह के नीचे खेलते और सोते हैं, बल्कि फूलों की छाँह के नीचे अगर जीवन का कोई स्वाद छिपा है, तो वह भी उनके लिए है, जो दूर रेगिस्तान से आ रहे हैं; जिनका कण्ठ सूखा हुआ, ओंठ फटे हुए और सारा बदन पसीने से तर है। पानी में जो अमृत वाला तत्व है, उसे वह जानता है जो धूप में खूब सूख चुका है; वह नहीं जो रेगिस्तान में कभी पड़ा ही नहीं है।

सुख देने वाली चीजें पहले भी थीं और अब भी हैं; फर्क यह है कि जो सुखों का मूल्य पहले चुकाते हैं और उनके मजे बाद को लेते हैं, उन्हें स्वाद अधिक मिलता है। जिन्हें आराम आसानी से मिल जाता है, उनके लिए आराम ही मौत है।

जो लोग पाँव भींगने के खौफ से पानी से बचते रहते हैं, समुद्र में डूब जाने का खतरा उन्हीं के लिए है। लहरों में तैरने का जिन्हें अभ्यास है, वे मोती लेकर बाहर आएँगे।

चाँदनी की ताजगी और शीतलता का आनन्द वह मनुष्य लेता है जो दिन भर धूप में खटकर लौटा है, जिसके शरीर को अब तरलाई की जरूरत महसूस होती है और जिसका मन यह जानकर सन्तुष्ट है कि दिन भर का समय उसने किसी अच्छे काम में लगाया है।

इसके विपरीत वह आदमी भी है, जो दिन-भर खिड़कियाँ बन्द करके पंखों के नीचे छिपा हुआ था और अब रात में जिसकी सेज बाहर चाँदनी में लगायी गयी है। भ्रम तो, शायद उसे भी होता होगा कि चाँदनी के मजे ले रहा है; लेकिन सच तो यह है कि वह खुशबूदान फूलों के रस में दिन-रात सड़ रहा है।

उपवास और संयम, ये आराम के साधन नहीं हैं। भोजन का असली स्वाद उसी को मिलता है, जो कुछ दिन बिना खाये भी रह सकता है। “त्यक्तेन भुजीथाः” जीवन का भोग त्याग के साथ करो, यह केवल परमार्थ का ही उपदेश नहीं है, क्योंकि संयम से भोग करने पर जीवन से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निरा भोगी बनकर भोगने से नहीं मिलता।

बड़ी चीजें बड़े संकटों में विकास पाती हैं; बड़ी हस्तियाँ मुसीबतों में पलकर दुनिया पर कब्जा करती हैं। अकबर ने तेरह साल की उम्र में अपने बाप के दुश्मन को परास्त कर दिया था, जिसका एकमात्र कारण यह था कि अकबर का जन्म रेगिस्तान में हुआ था और यह भी उस समय जब उसके बाप के पास एक कस्तूरी को छोड़कर और कोई दौलत नहीं थी।

महाभारत में देश के प्रायः अधिकांश वीर कौरवों के पक्ष में थे मगर फिर भी जीत पाण्डवों की हुई; क्योंकि उन्होंने लाक्षागृह की मुसीबत झेली थी, क्योंकि उन्होंने वनवास की जोखिम को पार किया था।

श्री विस्टन चर्चिल ने कहा है कि जिन्दगी की सबसे बड़ी सफलता हिम्मत है, आदमी के और सारे गुण उसके हिम्मती होने से ही पैदा होते हैं।

जिन्दगी की दो सूरतें हैं। एक तो यह कि बड़े-से-बड़े मकसद के लिए कोशिश करे, जगमगाती हुई जीत पर पंजा डालने के लिए हाथ बढ़ाकर और अगर सफलताएँ कदम-कदम पर जोश की रोशनी के साथ अंधियारी का जाल बुन रही हों तब भी वह पीछे को पाँव न हटाए।

दूसरी सूरत यह है कि वह गरीब आत्माओं की हमजोली बन जाए, जो न बहुत अधिक सुख पाती है और न जिन्हें बहुत अधिक दुःख पाने का ही संयोग है, क्योंकि ये आत्माएँ ऐसी गोधूलि में बसती हैं जहाँ न तो जीत हँसती है और न कभी हार के रोने की आवाज सुनायी पड़ती है। इस गोधूलि वाली दुनिया के लोग बँधे हुए घाट का पानी पीते हैं, वे जिन्दगी के साथ जुआ नहीं खेल सकते और कौन कहता है कि पूरी जिन्दगी को दाँव पर लगा देने के कोई आनन्द नहीं है?

अगर रास्ता आगे ही निकल रहा हो तो फिर असली मजा तो पाँव बढ़ाते जाने में ही है।

साहस की जिन्दगी सबसे बड़ी जिन्दगी होती है। ऐसी जिन्दगी की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह बिलकुल निडर, बिलकुल बेख़ौफ़ होती है। साहसी मनुष की पहली पहचान यह है कि वह इस बात कि चिन्ता नहीं करता कि तमाशा देखने वाले लोग उसके बारे में क्या सोच रहे हैं। जनमत की उपेक्षा करके जीने वाला आदमी दुनिया की असली ताकत होता है और मनुष्यता को प्रकाश भी उसी आदमी से मिलता है। अड़ोस पड़ोस को देखकर चलना, यह साधारण जीव का काम है। क्रांति करने वाले लोग अपने उद्देश्य की तुलना न तो पड़ोसी के उद्देश्य से करते हैं और न अपनी चाल को ही पड़ोसी की चाल देखकर मद्धिम बनाते हैं।

साहसी मनुष्य उन सपनों में भी रस लेता है जिन सपनों का कोई व्यावहारिक अर्थ नहीं है।

झुंड में चलना और झुंड में चरना, यह भैंस और भेड़ का काम है। सिंह तो बिल्कुल अकेला होने पर भी मग्न रहता है।

अर्नाल्ड बेनेट ने एक जगह लिखा है कि जो आदमी यह महसूस करता है कि किसी महान निश्चय के समय वह साहस से काम नहीं ले सका, जिन्दगी की चुनौती को कबूल नहीं कर सकता, वह सुखी नहीं हो सकता। बड़े मौके पर साहस नहीं दिखाने वाला आदमी बराबर अपनी आत्मा के भीतर एक आवाज़ सुनता रहता है, एक ऐसी आवाज़ जिसे वही सुन सकता है और जिसे वह रोक भी नहीं सकता। यह आवाज़ उसे बराबर कहती रहती है, “तुम साहस नहीं दिखा सके, तुम कायर की तरह भाग खड़े हुए।” सांसारिक अर्थ में जिसे हम सुख कहते हैं उसका न मिलना, फिर भी, इससे कही श्रेष्ठ है कि मरने के समय हम अपनी आत्मा से यह धिक्कार सुनें कि तुममें हिम्मत की कमी थी, कि तुम में साहस का अभाव था, कि तुम ठीक वक़्त पर जिन्दगी से भाग खड़े हुए।

जिन्दगी को ठीक से जीना हमेशा ही जोखिम झेलना है और जो आदमी सकुशल जीने के लिए जोखिम की हर जगह पर एक घेरा डालता है, वह अंततः अपने ही घेरों के बीच कैद हो जाता है और जिन्दगी का कोई मजा उसे नहीं मिल पाता, क्योंकि जोखिम से बचने की कोशिश में, असल में, उसने जिन्दगी को ही आने से रोक रखा है।

जिन्दगी से, अंत में, हम उतना ही पाते हैं जितनी कि उसमें पूंजी लगाते हैं। यह पूंजी लगाना जिन्दगी के संकटों का सामना करना है, उसके उस पन्ने को उलट कर पढ़ना है जिसके सभी अक्षर फूलों से ही नहीं, कुछ अंगारों से भी लिखे गए हैं। जिन्दगी

का भेद कुछ उसे ही मालूम है जो यह जानकर चलता है कि जिन्दगी कभी भी खत्म न होने वाली चीज़ है।

अरे! ओ जीवन के साधकों ! तु निचली डाल का फूल तोड़कर लौट जा रहे हो, तो फिर फुगनी पर का यह लाल—लाल आम्र किसके वास्ते हैं ?

अरे! ओ जीवन के साधकों! अगर किनारे की मरी सीपियों से ही तुम्हें संतोष हो जाये तो समुद्र के अंतराल में छिपे हुए मौक्तिक—कोष को कौन बाहर लायेगा?

दुनिया में जितने भी मजे बिखरे गए हैं उनमें तुम्हारा भी हिस्सा है। वह चीज भी तुम्हारी हो सकती है जिसे तुम अपनी पहुँच के परे मान कर लौटे जा रहे हो।

कामना का दामन छोटा मत करो, जिन्दगी के फल को दोनों हाथों से दबाकर निचोड़ों, रस की निर्झरी तुम्हारे बहाए भी बह सकती है।

“यह अरण्य, झुरमुट जो काटे अपनी राह बना ले,  
क्रीत दास यह नहीं किसी का जो चाहे अपना ले।  
जीवन उनका नहीं युधिष्ठिर! जो उससे डरते हैं।  
वह उनका जो धरण रोप निर्भय होकर लड़ते हैं।”

### 3. बुद्धदेव

**लेखक परिचय :-** रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई 1861 को कोलकत्ता में हुआ था। रवीन्द्रनाथ अपने माता-पिता की तेरहवीं संतान थे। बचपन में उन्हें प्यार से 'रबी' बुलाया जाता था। 8 वर्ष की उम्र में उन्होंने अपनी पहली कविता लिखी, सोलह साल की उम्र में उन्होंने कहानियाँ और नाटक लिखना प्रारंभ कर दिया था। उन्हें आमतौर पर 20 वीं शताब्दी के उत्कृष्ट रचनात्मक कलाकार के रूप में भी माना जाता है। 1913 में वे साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाले पहले नान् यूरोपियन बनें। रवीन्द्रनाथ टैगोर एक ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं को दो देशों ने अपना राष्ट्रगान बनाया।

वह बांग्ला कवि, कहानीकार, गीतकार, संगीतकार, नाटककार, निबन्धकार और चित्रकार थे। भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ रूप को पश्चिमी देशों से और पश्चिमी देशों की संस्कृति का परिचय भारत से करवाया तथा आमतौर पर उन्हें आधुनिक भारत का असाधारण सृजनशील कलाकार माना जाता है।

आप विश्व के एकमात्र ऐसे साहित्यकार हैं जिनकी दो रचनाएँ दो देशों का राष्ट्रगान बनीं। भारत का राष्ट्रगान 'जन-गण मन' और बांग्लादेश का राष्ट्रीय गान 'आमार सोनार बांग्ला' गुरुदेव की ही रचनाएँ हैं। उनका सबसे लोकप्रिय रचना 'गीतांजलि' है। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, जापानी, रूसी आदि विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया। 7 अगस्त 1941 को कोलकत्ता में इस बहुमुखी साहित्यकार का निधन हो गया।

.....

जिसे मेरा हृदय सर्वश्रेष्ठ मानव जानता है, आज वैशाखी पूर्णिमा के दिन उसके जन्मोत्सव में अपना प्रणाम निवेदन करने आया हूँ। यह किसी विशेष उत्सव का उपकरण या अलंकार—मात्र नहीं है। जो अर्घ्य एकांत में बार—बार समर्पण कर चुका हूँ, वही आज यहाँ आपके सामने देता हूँ।

एक दिन बुद्धगया के मंदिर का दर्शन करने गया था। मन में यह विचार उठा था—जिसके चरण—स्पर्श से वसुधा पवित्र हुई वह जब इसी गया में भ्रमण कर रहा था क्यों न मैंने उस युग में जन्म ग्रहण किया, क्यों न समस्त शरीर और मन से उसका पुण्यप्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर सका?

लेकिन फिर मैंने यह भी सोचा कि वर्तमान समय की परिधि अत्यंत संकीर्ण है, क्षणिक घटनाओं के धूलि—चक्र से कलुषित है। इस संकुचित, मलिन युग में उस महामानव को हम परिपूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं कर पाते। इतिहास ने बार—बार उसे प्रणाम किया है। बुद्धदेव के जीवन—काल में क्षुद्र मन की ईर्ष्या और विरोध का आघात उन पर हुआ था, उनके माहात्म्य को गर्व करने के लिए तरह—तरह का मिथ्या प्रचार किया गया था। सहस्रों लोगों ने उन्हें प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा। ये लोग बुद्धदेव का 'दूरत्व' अनुभव नहीं कर सके। उनकी अलौकिकता का बोध उन्हें यथार्थ रूप से नहीं हुआ, क्योंकि तब तक यथेष्ट समय नहीं बीता था। इसलिए सोचता हूँ कि तत्कालीन घटनाओं की अस्पष्टता के बीच उनका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया, यह अच्छा ही हुआ।



जो वास्तव में महापुरुष होते हैं वे जन्म लेते ही महान युग में स्थान ग्रहण करते हैं। अतीत में भी वे वर्तमान होते हैं और सुविस्तीर्ण भविष्य में भी विराजते हैं। यह बात मैंने उस दिन बुद्ध गया के मंदिर में समझी। मैंने देखा कि दूर जापान से, समुद्र पार करके, एक निर्धन मछुआ मंदिर में आया हुआ था, अपने किसी दुष्कर्म के लिए पश्चात्ताप व्यक्त करने। निर्जन, निःशब्द मध्य-रात्रि में एकाग्र मन से हाथ जोड़कर वह बार-बार कहा रहा था, “मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।”

शताब्दियों पहले की बात है, शाक्य-कुल का राजपुत्र मनुष्य का दुख दूर करने की साधना से आधी रात को राजमहल त्यागकर बाहर निकल पड़ा था। और उसी की शरण लेने जापान का वह दुखी तीर्थयात्री उस दिन बुद्धगया के मंदिर में आया था। उस पाप-परितप्त यात्री के लिए उस समय पृथ्वी की सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं की अपेक्षा बुद्धदेव अधिक निकट थे। उस मुक्तिकामी के जीवन में बुद्धदेव का जन्मदिन व्याप्त हो गया था। उस दिन वह यात्री अपने मनुष्यत्व की गंभीर आकांक्षा के प्रकाश में अपने सम्मुख नरोत्तम बुद्ध को देख सका था।

जिस युग में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था उसमें यदि वे प्रतापशाली राजा के रूप में, या विजयी वीर के रूप में, दुनिया के सामने आते तो उस युग को अभिभूत करके आसानी से सम्मान लाभ कर सकते। लेकिन वह सम्मान अपनी संकुचित काल-सीमा के बीच लुप्त हो जाता। प्रजा राजा को बड़ा मानती है, निर्धन के लिए धनी महान है, दुर्बल के लिए प्रबल। लेकिन महामानव की अभ्यर्थना तो वही मानव कर सकता है जिसने मनुष्यत्व की साधना की है, पूर्णता की साधना की है। मानव द्वारा महामानव की

स्वीकृति ही महायुग का आधार होता है। आज भगवान बुद्ध को हम देखते हैं मानव—मन के महासिंहासन पर, महायोग की वेदी पर, जहाँ अतीत का प्रकाश वर्तमान का अतिक्रमण कर रहा है। अपने चित्त—विकार से और अपने चरित्र की अपूर्णता से पीड़ित मनुष्य आज भी उन्हीं के पास आकर कहता है: 'मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ।' चिरकाल तक प्रसारित मानव—चित्त की इस घनिष्ठ उपलब्धि में ही बुद्धदेव का यथार्थ आविर्भाव है।

हम साधारण लोग एक—दूसरे के द्वारा अपना परिचय देते हैं। यह परिचय विशेष श्रेणी का, विशेष जाति का, विशेष समाज का परिचय होता है। पृथ्वी पर ऐसे बहुत कम लोग हुए हैं जो अपने—आप प्रकाशवान हैं, जिनका आलोक प्रतिबिंबित आलोक नहीं है, जो केवल अपनी महिमा और सत्य से ही संपूर्ण रूप से प्रकाशित हैं। प्रकाश का अंश तो हम बहुत—से बड़े लोगों में देखते हैं—वे ज्ञानी हैं, विद्वान हैं, वीर हैं, राष्ट्र—नेता हैं; उन्होंने मनुष्य को अपनी इच्छानुरूप चलाया है; उन्होंने अपने संकल्प के आदर्श से इतिहास को संगठित किया है। लेकिन यह तो आंशिक प्रकाश है। पूर्ण मनुष्यत्व का प्रकाश तो केवल उन्हीं का है जिन्होंने सभी देशों, युगों और लोगों पर अधिकार किया है, जिनकी चेतना राष्ट्र, जाति या देश—काल की सीमाओं से खंडित नहीं हुई।

सत्य ही मनुष्य का प्रकाश है। इस सत्य के विषय में उपनिषद् का कहना है: 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति से पश्यति'। जिन्होंने जीव—मात्र को अपने समान समझा है उन्होंने ही सत्य को समझा है। जिन्होंने इस तरह अपने—आप में सत्य को जाना है उनमें ही मनुष्यत्व प्रकाशित हुआ है। वे अपनी मानव—महिमा से देदीप्यमान हैं।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति

आत्मनः सर्वभूतेषु न ततो विजुगुप्सते ।

अपने बीच सभी को और सभी के बीच अपने—आपको जो देख सके हैं वे छिपे नहीं रह सकते, प्रत्येक युग में वे प्रकाशित हैं ।

मनुष्यत्व का यह प्रकाश आज दुनिया के अधिकांश लोगों में व्याप्त है। कहीं वह स्पष्ट है, कहीं ओझल। पृथ्वी की जब सृष्टि हुई उस समय भूमंडल वाष्प के घने आवरण से ढका हुआ था। उस समय केवल थोड़े—से पर्वत—शिखर इस आवरण से ऊपर उठकर आलोकित थे। आज भी इसी तरह अधिकतर लोग अपने स्वार्थ से, अहंकार से और अवरुद्ध चैतन्य से प्रच्छन्न हैं। जिस सत्य में सर्वत्र आत्मा का प्रवेश है, उस सत्य का विकास अधिकतर लोगों में अपरिणत आस्था में है। मनुष्य की सृष्टि आज भी असंपूर्ण है। असमाप्ति के इस घने आवरण के बीच हमें मनुष्य का परिचय कैसे मिलता यदि प्रकाशवान महापुरुषों के रूप में मानवता का सहसा आविर्भाव न होता ? मनुष्य का यह महाभाग्य था कि भगवान बुद्ध में मनुष्य का सत्यस्वरूप देदीप्यमान हुआ। उन्होंने मानव—मात्र को अपने विराट हृदय में ग्रहण किया और मानवता को प्रकाशित किया। 'न ततो विजुगुप्सते'— उन्हें गोपन कौन रख सकता है? देश—काल की कौन—सी सीमा, प्रयोजन—सिद्धि की कौन—सी प्रलुब्धता, उन्हें छिपा सकती है?

तपस्या के आसन से उठकर भगवान बुद्ध ने अपने—आपको प्रकाशित किया। इस आलोक की सत्यदीप्ति से भारतवर्ष का प्रकाशन हुआ। मानव इतिहास में उनका चिरंतन आविर्भाव भारत

की भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण करके देश—देशांतर में व्यप्त हुआ। भारत तीर्थ बन गया, अन्य सभी देशों द्वारा वह स्वीकृत हुआ, क्योंकि बुद्ध की वाणी से उस दिन भारत ने सभी मानव—जाति को स्वीकार किया था। उसने किसी भी अवज्ञा नहीं की, इसलिए वह स्वयं गोपन नहीं रहा। सत्य के तूफ़ान ने वर्ण की दीवार को गिरा दिया, और देश—विदेश की सभी जातियों तक भारत का आमंत्रण पहुँचा। चीन और ब्रह्मदेश ने, जापान, तिब्बत और मंगोलिया ने इस आमंत्रण को स्वीकार किया। अमोघ सत्य के संदेश ने दुस्तर गिरि—समुद्र के बीच पथ ढूँढ़ लिया। दूर—दूर तक मनुष्य की यह आवाज़ सुनाई दी : ‘मानव का प्रकाशन हुआ, हमने देखा है— महानतम् पुरुषम् तमसः परस्तात्।’ इस घोषणा वाक्य को अक्षय रूप मिला मरु—प्रांत की प्रस्तर—मूर्तियों में। अद्भुत अध्यवसाय के साथ मनुष्य ने मूर्ति, चित्र और स्तूप द्वारा बुद्धदेव का वंदन किया। लोगों ने कहा—इस अलौकिक पुरुष के प्रति दुःसाध्य साधनो से ही भक्ति प्रदर्शित करनी होगी। उनके मन को अपूर्व शक्ति की प्रेरणा मिली। अँधेरी गुफाओं की दीवारों पर उन्होंने चित्र बनाए, भारी—से—भारी पत्थरों को पहाड़ की चोटियों पर ले जाकर उन्होंने मंदिर बनाए। शिल्प—प्रतिभा ने समुद्र पार करके अपरूप शिल्प—संपदा का निर्माण किया। शिल्पी ने अपना नाम भुला दिया, शाश्वत काल के लिए वह केवल यह मंत्र छोड़ गया: ‘बुद्धम् शरणम् गच्छामि।’ जावा द्वीप में बोरोबुदुर के वृहत् स्तूप की प्रदक्षिणा करते हुए मैंने शत—शत मूर्तियाँ देखी हैं जिनमें जातक—कथाओं की वर्णना है। उनमें से प्रत्येक मूर्ति में शिल्पी का नैपुण्य प्रतिबिंबित है, कहीं लेश—मात्र भी आलस्य नहीं है, असावधान नहीं है। इसको कहते हैं शिल्प की तपस्या, और साथ—ही—साथ यह भक्ति की तपस्या भी है। यहाँ ख्यातिलोभहीन,

निष्काम, कष्टमय साधना है। शिल्पी ने अपनी श्रेष्ठ शक्ति का उत्सर्ग किया चिरस्मरणीय के नाम, चिरवरणीय के नाम। लोगों ने कठिन दुख स्वीकार करते हुए अपनी भक्ति को सार्थक किया। उन्होंने सोचा—मानव—मात्र की जो चिरंतन भाषा है उसके द्वारा यदि हम अकृपण रूप से अपनी प्रतिभा को व्यक्त न करें तो यह कैसे कह सकेंगे: 'बुद्धदेव समस्त मानव—जाति के लिए आए थे, युग—युगांतर के लिए आए थे ?' बुद्धदेव ने मानव से ऐसी अभिव्यक्ति माँगी थी जो दुःसाध्य हो, चिर—जागरूक हो, जो बंधनों पर विजयी हो। इसीलिए पूर्व महादेश के दुर्गम स्थानों में उनकी जय—ध्वनि पूजा के आकार में प्रतिष्ठित हुई—पर्वत शिखर पर, मरुभूमि में, निर्जन गुहा में। भगवान बुद्ध को इससे भी महान अर्घ्य उस दिन मिला जब राजाधिराज अशोक ने शिलालेख द्वारा अपना पाप स्वीकार किया, अहिंसा—धर्म की महिमा को घोषित किया, अपने प्रणाम को शिला—स्तंभ पर अंकित करके महाकाल के प्रांगण में सुरक्षित रखा।

इतना बड़ा सम्राट पृथ्वी ने और भी कोई देखा है ? इस सम्राट को जिस गुरु ने माहात्म्य दान किया उसका आह्वान करने की आवश्यकता जैसी आज है वैसी उस दिन भी नहीं थी जब उसने इसी भारत में जन्म ग्रहण किया था। वर्ण—वर्ण में, जाति—जाति में, आज धर्म के नाम पर अपवित्र भेद—बुद्धि की निष्ठुर मूढ़ता पृथ्वी को रक्तरंजित कर रही है। परस्पर हिंसा से भी अधिक सांघातिक परस्पर घृणा मनुष्य को पग—पग पर अपमानित कर रही है। भ्रातृद्वेष से कलुषित इस अभागे देश में आज हम उत्कंठापूर्वक उन्हें स्मरण करते हैं जिन्होंने सभी जीवों के प्रति मैत्री का मुक्तिपथ बताया था। उन्हीं की वाणी आज भी

सुनता चाहते हैं। मानव की श्रेष्ठता का उद्धार करने के लिए वह श्रेष्ठ मानव पूजा—वेदी पर आविर्भूत है। सबसे बड़ा दान श्रद्धा—दान होता है, और इस दान से बुद्धदेव ने किसी मनुष्य को वंचित नहीं रखा। जिस दया को, जिस दान को उन्होंने धर्म कहा, वह दूर से दिया हुआ अर्थदान नहीं, वह अपने—आपका दान है। वह धर्म कहता है: 'श्रद्धापूर्वक दान करो!' डर यही है कि अपनी श्रेष्ठता, पुण्य या धन के अभिमान से हमारा दान अपमानित न हो, अधर्म में परिणत न हो। इसीलिए उपनिषद् में कहा है 'भ्रिया देयम्' — भय करते हुए दान दो। किसका भय ? धर्म—कर्म के द्वारा मनुष्य के प्रति श्रद्धा खो देने की जो आशंका है उसी से हमें डरना चाहिए। आज भारत में धर्मविधि की प्रणाली से चारों ओर मनुष्य के प्रति अश्रद्धा प्रसारित हुई है। इसकी भयानकता केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के क्षेत्र में भी देश के मार्ग में सबसे बड़ी रुकावट है। इस बात को आज हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। राजनीति के पथ से, या किसी बाह्य उपाय से, क्या इस समस्या का कभी समाधान हो सकता है ?

एक दिन भगवान बुद्ध राज्य—संपदा का त्याग करके तपस्या करने बैठे थे। उसके पीछे समस्त मानव—जाति के दुख—मोचन का संकल्प था। उस तपस्या में क्या कोई अधिकार—भेद था? उनके लिए कोई म्लेच्छ था ? कोई अनार्य था ? उनका सर्वस्व—त्याग दीनतम, मूढ़तम मनुष्य के लिए भी था ? उनकी तपस्या के बीच सभी देशों के, सभी लोगों के प्रति श्रद्धा थीं। उनकी इतनी बड़ी तपस्या आज क्या भारत से विलीन होगी ?

मैं पूछता हूँ, एक—दूसरे के बीच दीवार खड़ी करके हम आखिर किस चीज़ की रक्षा कर पाए हैं? इस दिन हमारे पास धन

से परिपूर्ण भंडार था। क्या वह बाहर के आघात से टूट नहीं गया? क्या उसका कोई चिह्न बाकी है? आज एक के बाद एक प्राचीर बनाकर हमने मनुष्य के प्रति आत्मीयता को अवरुद्ध कर दिया है। देवका के मंदिर—द्वार पर पहरा लगा दिया है। देवता पर अपने अधिकार को भी कृपण की तरह हमने छिपा रखा है। दान और व्यय द्वारा जो धन गया उसे तो हम बचा नहीं सके। लेकिन जिस धन की दान द्वारा क्षति नहीं बल्कि वृद्धि होती है उस धन को—मनुष्य के प्रति श्रद्धा को—हमने सांप्रदायिकता के संदूक में ताला लगाकर बंद कर दिया। पुण्य का भंडार हमारे लिए विषयी का भंडार हो गया। एक दिन जिस भारत ने मनुष्य के प्रति श्रद्धा द्वारा समस्त पृथ्वी में अपना मनुष्यत्व उज्ज्वल किया था, आज वही देश अत्यंत संकुचित रूप से अपना परिचय देता है। मनुष्य के प्रति अश्रद्धा दिखाकर वह स्वयं मनुष्य की अश्रद्धा का भागी हो गया है। आज मनुष्य—मनुष्य में विरोध है, क्योंकि आज मनुष्य सत्यभ्रष्ट हो गया है, उसका मनुष्यत्व प्रच्छन्न हो गया है। तभी आज सारी पृथ्वी पर एक—दूसरे के प्रति इतना संदेह, इतना आतंक, इतना आक्रोश है। आज वह दिन आ गया है जब हम महामानव को पुकारकर प्रार्थना करें, ‘तुम अपने प्रकाश द्वारा फिर मानव को प्रकाशित करो!’

भगवान बुद्ध ने कहा था, ‘अक्रोध के द्वारा क्रोध पर विजय लाभ करो।’ आज से कुछ वर्ष पहले पृथ्वी पर महायुद्ध हुआ था। एक पक्ष विजयी हुआ—वह विजय बाहुबल की विजय थी। लेकिन बाहुबल तो मनुष्य का चरम बल नहीं। इसलिए मानव—इतिहास की दृष्टि से वह विजय निष्फल है। उसने केवल नए युद्ध के बीज बोए हैं। मनुष्य के अंदर अभी तक ‘पशु’ जीवित है। वही पशु हमें

यह समझने नहीं देता कि मनुष्य की वास्तविक शक्ति अक्रोध में है, क्षमा में है। इसीलिए मानव—सत्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए मानव के गुरु ने कहा, 'अपने क्रोध को और दूसरों के क्रोध को अक्रोध द्वारा पराजित करो!' यदि ऐसा न किया तो जिसके लिए मनुष्य मनुष्य हुआ है वह व्यर्थ हो जाएगा। बाहुबल की सहायता से यदि हम क्रोध पर और प्रतिहिंसा पर विजय प्राप्त करें तो हमें शांति नहीं मिल सकती। क्षमा में ही शांति है। यह बात जब तक मनुष्य अपनी राजनीति और समाजनीति में स्वीकार नहीं कर सकेगा, तब तक अपराधी का अपराध बढ़ता जाएगा; राष्ट्रीय विरोध की अग्नि नहीं बुझेगी; कारागृह की दानविक निष्ठुरता से, और सशस्त्र शैन्य—शिविर के भृकुटि—विक्षेप से, पृथ्वी की मर्मांतक पीड़ा उत्तरोत्तर दुःसह होती जाएगी, कहीं उसका अंत नहीं दिखाई पड़ेगा। पाशविकता की सहायता से सिद्धि—लाभ की दुराशा मनुष्य में है। जिन्होंने इस दुराशा से मनुष्य को मुक्त करना चाहा था उनके शब्द थे: 'अक्कोधेन जिनेत् कोधः।' मनुष्यत्व के जगद्व्यापी अपमान के इस युग में आज वह दिन आ गया है कि हम उस महापुरुष को स्मरण करें और कहें 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि।' हम उन्हीं की शरण लेंगे जिन्होंने अपने बीच मानव को प्रकाशित किया। उन्होंने जिस मुक्ति की बात कही वह सकारात्मक है, नकारात्मक नहीं ; वह मुक्ति कर्म—त्याग से नहीं मिलती, साधुकर्म से और आत्मत्याग से मिलती है; उस मुक्ति का आधार केवल राग—द्वेष—वर्जन नहीं है, बल्कि सभी जीवों के प्रति अपरिमित मैत्री—साधना है। आज के दिन जबकि हम चारों ओर स्वार्थ—क्षुधा से अंध वैश्य—वृत्ति देखते हैं, निर्मम निःसीम लुब्धता



देखते हैं, हम उसी बुद्ध से शरण माँगते हैं जिसके आविर्भाव में विश्व—मानव का सत्य रूप प्रकाशित हुआ।

(18 मई, 1935 को महाबोधि सोसाइटी, कलकत्ता में बुद्ध—जयंती के अवसर पर दिया गया अध्यक्षीय संभाषण। 'प्रवासी' में (आषाढ) 1342 बंगला संवत् जून 1935 में प्रकाशित।)

.....

## 4. गप—शप

लेखक परिचय:— नामवर सिंह का जन्म उत्तर प्रदेश में वाराणसी जनपद में 1927 ई. को हुआ था। हिन्दी विश्वविद्यालय से एम.ए., पी.एच.डी. करने के बाद कुछ वर्षों तक अध्यापन किया। जोधपुर विश्वविद्यालय तथा जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य के पद पर आसिन रहे। अनेक वर्षों से आलोचना पत्रिका का सम्पादन किया। नामवर सिंह प्रगतिशील आलोचक के रूप में प्रसिद्ध है। इनकी मृत्यु 19 फरवरी 2019, नई दिल्ली में हुई।

इन्होंने अधिकतर आलोचना, साक्षात्कार इत्यादि विधाओं में सृजन किया है। कविता के नये प्रतिमान के लिए इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार से नवाज़ा गया था। 1991 से राजा राजमोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान के अध्यक्ष रहे। 1959 में वे सक्रिय राजनीति में उतरे, लोकसभा चुनाव लड़ा, हालाँकि चुनाव में उन्हें हार का सामना करना पड़ा था।

कहानी: नयी कहानी, छायावाद, इतिहास और आलोचना, कविता के नये प्रतिमान, दूसरी परंपरा की खोज, वाद विवाद संवाद, आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं। हिन्दी की दो पत्रिकाओं जनयुग और आलोचना का संपादन भी किया। इनके आलोचनात्मक रचनाएँ हैं:— बकलम खुद, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृथ्वीराज रासों की भाषा, छायावाद, इतिहास और आलोचना, दूसरी परंपरा की खोज, 'कहना न होगा' इनकी साक्षात्कार रचना है। नामवर सिंह को साहित्य अकादमी पुरस्कार, शलाका सम्मान हिन्दी अकादमी, साहित्य भूषण सम्मान, महावीर प्रसाद सम्मान तथा शब्दसाधक शिखर सम्मान प्राप्त हुए हैं।

.....

डायरी तो मैं लिखता नहीं और न हिसाब—किताब रखने की आदत ही है, लेकिन आज सोते समय जब पूरे दिन की उपलब्धियों पर विचार करने लगा तो शून्य भी हाथ न आया— वह भी ऊपर ही रहा। बड़ी झल्लाहट हो रही है। सारा दिन बेकार गया। कुछ तो इधर—उधर घूमने में और कुछ इधर—उधर की गम—शप में। क्या लाभ हुआ इन व्यर्थ की बातों से ? गोष्ठी के साथ भी खूब हैं: न कोई निश्चित विषय और न किसी बात पर अच्छी तरह जम के विचार! जैसे केले के पात—पात में पात वैसे बात—बात में बात! एक है 'व' — गप्पें हाँकने में आला। सभी बातें इस तरह कहता है जैसे वह उन सबका नायक हो। प्रेम की कहानियाँ, रोमांस की घटनाएँ, शिकार के दृश्य, सब कुछ इस तरह बयान करता है जैसे वह डान 'क्विकजोट' हो। कहने से तो ऐसा मालूम होता है जैसे संसार की सारी लड़कियाँ उसी पर मरती हैं। वाहियात! दस फीसदी सच्चाई पर नब्बे फीसदी झूठ का मुनाफा रखकर बातें करता है। दूसरा है 'प'— उसकी दूसरी सनक। गोया दुनिया में कोई ऐसा नहीं है जिसे वह न जानता हो! बड़े—बड़े डाक्टरों से उसका परिचय, पुलिस के अधिकारियों से उसका सम्बन्ध, मन्त्रियों और नेताओं तक उसकी पहुँच। गरज कि वह साधारण लोगों पर यदि कभी कृपा करने आता है तो केवल हमीं लोगों पर। तीसरे साहब हैं 'म' —जब मिलिए वही अध्यापकी जीवन की बातें रटेंगे। फलाँ को मैंने ऐसा जवाब दिया, फलाँ को ऐसे लथेड़ा आज क्लास में ऐसा पढ़ाया। मतलब दुनिया—भर उनके लिए पाठशाला है और सभी लोग उनके विद्यार्थी।

क्यों किसी का समय मैं लूँ, लेकिन इसी तरह की बातें हुई। लौटा तो मन इतना भारी था कि कभी ऐसी गोष्ठी में भाग न लेने की प्रतीज्ञा की। लेकिन इस समय जब ठंडे दिल से सोच रहा हूँ तो लगता है कि यह सब बिल्कुल बेकार ही नहीं था।

बेकार बातों से ही तो किसी का चरित्र खुलता है। इतने लोगों के बारे में मैंने जो राय बनायी, वह क्या किसी संतुलित बात पर विवाद करने से हो सकती थी? आदमी का सच्चा रूप तो उसकी बेकार की ही बातों में खुलता है। नियमित और विवेकपूर्ण बातों से तो उसका बनावटी या ऊपरी रूप दिखायी पड़ता है। भाषण से उसकी बुद्धि और वक्तृता-शक्ति का पता चलता है। असली आदमी कहीं भीतर ढका रहता है। हृदय का धड़कता हुआ पंछी किसी भीतरी पिंजरे में होता है।

काम की बातों से काम का पता चलता है, आदमी का नहीं। आदमी का पता तो बेकाम की बातों से चलता है। आदमी की असली और छिपी मनोवृत्तियाँ तो तभी खुलती हैं। बात तो बात, निरर्थक शब्द भी बेकार नहीं होते। वैयाकरण केवल सार्थक शब्दों के बच्चे खिलाते रहें, लेकिन क्या आदमी निरर्थक शब्दों का प्रयोग छोड़ सकता है? सुनते हैं, शब्द और अर्थ विवाहित ही पैदा हुए हैं और आजीवन दो रहते हुए भी एक रहने का व्रत लेते हैं। परन्तु उनमें भी कुछ तलाक देने वाले होते ही हैं और उनका असली भेद उसी दिन खुलता है, जब दोनों एक-दूसरे को तलाक देकर अलग हो जाते हैं।

सार्थक शब्द तो सामाजिक परम्परा के नपे-तुले ढाँचे हैं, उनमें तो जो बातें आती हैं वह टाइप बनकर। निरर्थक शब्दों से ही उसकी मौलिकता और वास्तविकता का पता लगता है। क्या कभी आपने अतीव विस्मृतावस्था में आत्मविभोर दो प्रेमियों की बातें सुनी है? 'सुनी हैं' मैं इसलिए पूछ रहा हूँ 'की हैं' की बात तो आप शायद तटस्थ भाव से न परख पाएँ। हो सकता है छिपाएँ भी। क्या उस भावावेश में कोई वाक्य या शब्द ठीक-ठिकाने से सार्थक निकलता है ? उस समय हृदय बोलता है और हृदय की भाषा प्रायः निरर्थक होती है, सार्थक भाषा तो बुद्धि की होती है। ध्यान कहीं और होता है। अथवा नहीं होता है। इन्द्रियाँ सुप्त,

शरीर जड़, शब्द मशीन से निकलते हैं। शब्द इसलिए निकलते हैं कि उन्हें पहले से मनुष्य बोलता आ रहा है। प्रश्न कुछ होता है, उत्तर कुछ होता है, उत्तर का उत्तर दिया जाता है और प्रश्न का प्रश्न। जैसे शब्दों की अपार वस्त्रराशि में से कोई कुछ पहन ले, कोई कुछ—कमीज की जगह पायजामा और पायजामे की जगह कुर्ता।

काम के लिए पत्र तो सब लिखते हैं। दफ्तरी चिट्ठियाँ रोज लिखी जा रही हैं; लेकिन काम का पत्र लिखने से शायद ही किसी को तृप्त होती है। कुछ पत्र आदमी यों ही लिखना चाहता है अथवा लिख जाता है, जिसका न तो कोई उद्देश्य होता है, न अभिप्राय और प्रयोजन। ऐसे निष्प्रयोजन पत्र का कोई उत्तर भी नहीं हो सकता, लेकिन देखता हूँ तो ऐसे प्रश्नमयी पत्रों के उत्तर की प्रतीक्षा बड़ी बेकरारी से की जाती है। (और उसका उत्तर भी सबसे लम्बा दिया जाता है)। आठ—आठ हजार, दस—दस हजार शब्दों में। ऐसे ही बेकार पत्रों से आदमी, आदमी उतरता है, आदमी खिलता है, आदमी खुलता है।

भूमिति की सार्थक रेखाएँ बहुत खींची जाती हैं। ओवरसियर और इंजीनियर लोग कोई मकान बनाने से पहले उसका रेखागणित बना लेते हैं। यह है सोद्देश्य और सप्रयोजन। लेकिन क्या वे सदैव ऐसी ही रेखाएँ खींचते हैं? जब कभी मन उदास हो, दिल भरा हो, दिमाग खाली हो, मन कहीं हो, तन कहीं हो, ऐसी दशा में भी क्या वह सार्थक ही रेखाएँ खींचता है? क्या करे मन जब नहीं तन? क्या करे तन कब नहीं मन? ऐसी दशा में वह कुछ अर्थहीन रेखाएँ खींचता रहता है—कागद हुआ तो कागद पर, न हुआ तो ज़मीन पर—

**भाव भरा उर, शब्द न आते,  
पहुँच न इन तक आँसू पाते।**

आओ, तृण से शुष्क धरा पर अर्थ—रहित रेखाएँ खींचे ।

लेकिन, कोई हृदयहीन ही इन रेखाओं को अर्थ—रहित कहेगा। सार्थक रेखा या लिपि है, जो इन भावों को इतनी अधिक तीव्रता और गहराई के साथ व्यक्त कर सकने की सामर्थ्य रखती है? किसी की बेकार खींची हुई रेखाओं से उसकी तत्कालीन मनःस्थिति का पता अच्छी तरह चल सकता है। सार्थक रेखाएँ या तो त्रिभुज बनाएँगी या किसी मकान अथवा पुल का मॉडल, आदमी नहीं।

इसी तरह पाठ्यक्रम की पुस्तकें देखकर किसी विद्यार्थी का वास्तविक रूप नहीं जाना जा सकता। उसे वह रखता है, क्योंकि उसे रखना पड़ता है। इससे अधिक से अधिक यही पता चल सकता है कि उसका ध्यान पाठ्य—पुस्तकों के संग्रह की ओर कितना है। परन्तु उसका भीतरी रूप तो उन पुस्तकों के संग्रह से मालूम होता है कि जिन्हें पाठ्यक्रम की दृष्टि से बेकार कहा जाएगा। नियमों की सीमा से चलते हुए आदमी नहीं पहचाना जाता, नियमों को तोड़ने अथवा उनकी सीमा समाप्त होने पर पहचाना जाता है। इसीलिए विद्यार्थी—जीवन में सभी विद्यार्थी आदमी के रूप में बहुत कुछ एक—से लगते हैं, परन्तु उन ढाँचो से बाहर निकलते ही अलग हो जाते हैं। कौन कहता है कि बेकार की पुस्तकें बेकार हैं? वही तो आदमी के सच्चे रूप की पुस्तकें हैं।

यही हालत है बेकार खर्च की। अगर कोई विद्यार्थी कालेज की फ़ीस जमा कर आता है या पाठ्य पुस्तक खरीद लेता है अथवा कोई अध्यापक जीवन—बीमा की किस्त जमा कर आता है तो उस खर्च से उसका कुछ पता नहीं चलता। मेस के बँधे मासिक खर्च से किसी की जीभ का रहस्य नहीं खुलता। रहस्य खुलता है फुटकर जलपानो से। आदमी अपने फुटकर और

निष्प्रयोजन, योजनाहीन आकस्मिक व्यय से पहचाना जाता है। बँधी चीजों के लिए तो सभी खर्च करते हैं। अक्सर बड़े-बूढ़े कभी-कभी लड़कों के खाने खेलने की चीजें खरीद बैठते हैं और युवक कौतूहल वश अपनी प्रकृति के विरुद्ध वस्तुएँ ले बैठते हैं। इनका पता यही खर्च का हिसाब बताता है।

बहुत-से लोग 'टाइम-टेबुल' बनाकर काम करते हैं। पर उससे उनकी नियमितता के सिवा कुछ नहीं मालूम होता। खुलते हैं वे उस समय जब अपने 'टाइम-टेबुल' का बंधन तोड़ते हैं। विद्यार्थियों का स्वभाव पढ़ाई के बँधे घण्टों में लगभग एक-सा होता है, परन्तु इसके बाद वे समय को जिस बेकारी और बेहिसाबी से बिताते हैं, वह उन्हें एक-दूसरे से अलग कर देती है। यही हाल दफ़्तर में खटने वाले क्लर्कों का है।

अक्सर हम अपने कुछ बेकार कागज फाड़कर या तो रद्दी की टोकरी में फेंक देते हैं या खिड़की के बाहर या कमरे से ही। अगर कोई उन रद्दी कागजों को बटोरकर जाँच करे तो वह आपके स्वभाव के विषय में बहुत कुछ सही अनुमान कर सकता है, रहस्य भी खोल सकता है।

किसी समाज का पता उसके धनाढ्य व्यापारियों, सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों को देखकर उतना नहीं चलता, जितना उसके बेकार आदमियों को देखकर। बेकार घूमने वाले आदमी ही किसी समाज की व्यवस्था का सच्चा हाल प्रकट करते हैं। आज देश में लाखों किसान-मजूर बेकार पड़े हैं, कितने ही शरणार्थी आश्रयहीन दशा में घूम रहे हैं, बेकारी की दशा में लेखकों की कलमें शिथिल हो रही हैं, खून की स्याहियाँ सूख रही हैं, साँसों के तार-तार हो रहे हैं— हिन्दुस्तान इनमें छिपा है, इन अँधेरी घाटियों में जहाँ दिन नहीं आते, केवल रातें रहती हैं; उन अट्टालिकाओं और धवल सौध-शिखरों में नहीं, जो भली-भाँति

सोने की चमक में प्रकाशित हैं! इस समाज का चित्रण भी वही कलम करेगी जो किसी रूपये की गुलाम नहीं, बल्कि बेकार पड़ी है, उन बेकारों के हुजूम की तरह, उनके साथ चलती है, उनसे बोलती है, उनकी सुनती है।

मगर मेरे दोस्त, तुम भी कहो शायद कि यह क्या गप्प हाँक रहा है। गप्प ही सही—गप्प पर भी क्या कोई व्यवस्थित बात कही जाती है? आज मेरी भी इच्छा थी कि तुमसे कुछ गप—शप करूँ। सम्भव है इससे मेरा कुछ अपनापन खुल जाये। मैं तुम्हें अपने से दूर क्यों रखूँ और क्यों रखूँ तुम्हें भ्रम में? मगर तुम्हारी भी असलियत का पता तभी चलेगा, जब ऐसे बेकार निबन्ध को पढ़ोगे।

.....



## 5. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है

**लेखक परिचय:**— पं. विद्यानिवास मिश्र का जन्म 28 जनवरी 1926 को उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिले के पकडडीहा गाँव में हुआ था। वारणासी और गोरखपुर में शिक्षा प्राप्त करनेवाले श्री मिश्र ने गोरखपुर विश्वविद्यालय से वर्ष 1960—61 में पाणिनी का व्याकरण पर डाक्टरेट की उपाधि अर्जित की थी।

विद्यानिवास मिश्रा जी हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार थे। आपकी विद्वता से हिन्दी जगत का कोना-कोना परिचित है। उन्होंने अमेरिका के मेकेले विश्वविद्यालय में भी शोध कार्य किया था तथा वर्ष 1967—68 में वाशिंगटन विश्वविद्यालय में अध्येता रहे थे। मध्यप्रदेश में सूचना विभाग में कुछ समय कार्यरत रहने के बाद वे अध्यापन के क्षेत्र में आ गए। आप 1968 से 1977 तक वारणासी के सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में अध्यापक एवं कुलपति रहे। उनकी उपलब्धियों की लम्बी श्रृंखला है। लेकिन वे हमेशा अपनी कोमल भावाभिव्यक्ति के कारण सराहे गए हैं। उनके ललित निबन्धों की महक साहित्य-जगत को हमेशा महकाती रहेंगी।

मिश्र जी ने 'भ्रमरानन्द' साहित्यिक नाम से अधिक रचनाएँ की हैं। उनके ललित निबन्धों की शुरुआत में पहला निबन्ध संग्रह 1952 ई. में 'छितवन की छाँह' प्रकाशित हुआ। आप साहित्य जगत को ललित निबन्ध परम्परा से अवगत कराया। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान, जाने माने भाषा विद्, हिन्दी साहित्यकार और सफल संपादक (नवभारत टैम्स) थे। उनको 1999 में भारत सरकार ने साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में पद्मभूषण से सम्मानित किया था। ललित निबन्ध परम्परा में ये आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी और कुबेरनाथ राय के साथ मिलकर रचनाएँ की हैं। पं.

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के बाद डॉ. विद्यानिवास मिश्र जी ने हिन्दी ललित निबन्धों को वांछित ऊँचाइयों तक पहुँचाया है। इनका मृत्यु 14 फरवरी 2005 में हुई।

.....

महीनों से मन बेहद—बेहद उदास है। उदासी की कोई खास वजह नहीं, कुछ तबीयत ढीली, कुछ आसपास के तनाव और कुछ उनसे टूटने का डर, खुले आकाश के नीचे भी खुलकर साँस लेने की जगह की कमी, जिस काम में लगकर मुक्ति पाना चाहता हूँ, उस काम में हज़ार बाधाएँ; कुल ले—देकर उदासी के लिए इतनी बड़ी चीज नहीं बनती। फिर भी रात—दिन नींद नहीं आती। दिन ऐसे बीतते हैं, जैसे भूतों के सपनों की एक रील पर दूसरी रील चढ़ा दी गई हो और भूतों की आकृतियाँ और डरावनी हो गई हों। इसलिए कभी—कभी तो बड़ी—से—बड़ी परेशानी करने वाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उल्टे ऐसा लगता है, जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ; न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी—कभी बहुत मामूली—सी बात भी भयंकर चिंता का कारण बन जाती है।

अभी दो—तीन रात पहले मेरे एक साथी संगीत का कार्यक्रम सुनने के लिए नौ बजे रात गए, साथ में जाने के लिए मेरे एक चिरंजीव ने और मेरी एक मेहमान, महानगरीय वातावरण में पली कन्या ने अनुमति माँगी। शहरों की आजकल की असुरक्षित स्थिति का ध्यान करके इन दोनों को जाने तो नहीं देना चाहता था, पर लड़कों का मन भी तो रखना होता है, कह दिया, एक—डेढ़ घंटे सुनकर चले आना।

बचपन में दादी—नानी जाँते पर वह गीत गातीं, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विहल होकर गातीं और लौटने पर कहतीं—‘मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था।’ जब मुझे दादी—नानी की इस आकुलता पर हँसी भी आती, गीत का

स्वर बड़ा मीठा लगता। हाँ, तब उसका दर्द नहीं छूता। पर इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के सम्भावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा—से—बड़ा संकट झेल लेगी। बार—बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पढ़ाती है, लड़का संकट—बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का ख्याल आते ही दुश्चिंता होती, गली में जाने कैसे तत्व रहते हैं। लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई व्यवस्था करनी चाहिए थी, पराई लड़की (और लड़की तो हर एक पराई होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खूले आकाश में कितने दिन फहराएगी, अंत में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आई, कहीं कुछ हो न जाए।

मन फिर घूम गया कौसल्या की ओर, लाखों—करोड़ों कौसल्याओं की ओर, और लाखों करोड़ों कौसल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम—अरूप कौसल्या की ओर, इन सबके राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बँधा है और उसी के भीगने की इतनी चिंता है? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरम्भ होने के पूर्व एक निश्चित मुहुर्त में मुकुट की ही पूजा सबसे पहले की जाती है? क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुँचने पर उन्हें 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं? कहीं—न—कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।

अभिषेक की बात चली, मन में अभिषेक हो गया और मन में राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन में प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश में उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाए, इसकी चिंता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर-बंद दुपट्टा भी (प्रहरी की जागरूकता का उपलक्षण) न भीगने पाए और अखंड सौभाग्यवती सीता की माँग का सिंदूर न भीगने पाए, सीता भले ही भीग जाएँ। राम तो वन से लौट आए, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आए, पर लोकमानस में राम की वनयात्रा अभी नहीं रूकी। मुकुट, दुपट्टे और सिंदूर के भीगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्याएँ बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने काँटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताजा चुभन लिये हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को सम्भालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकठोरी में बंद जिलावतनी की तरह दिन बिताएँगे।

सोचते-सोचते लगा की इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश में विसूर रही है— 'मेरे राम के भीजे मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, एश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का

सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे ऐश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झाँकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झाँकता हूँ, तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शकल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगल-घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठों का अम्बर दिखता और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़ने वाले अंतिम कारबरदार की उसाँस में बजकर एकबारगी बंद हो जाता है।

कैसे मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कैसी अँधेरी कालरात्रि आ गई है ? एक-दूसरे को देखने से डर लगता है। घर मसान हो गया है, अपने ही लोग भूत-प्रेत बन गए हैं, पेड़ सूख गए हैं, लताएँ कुम्हला गई हैं। नदियों और सरोवरों को देखना भी दुस्सह हो गया है। केवल इसलिए कि जिसका ऐश्वर्य अभिषेक हो रहा था, वह निर्वासित हो गया। उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चौतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की, मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुख चेतना की यही कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है। इसीलिए जब कीमत अदा कर ही दी गई, तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिंता स्वाभाविक हो जाती है। राम भीगें तो भीगें, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करने वाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें,

पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूंदों की झालर में उसकी दीप्ति छिपने न पाए। उस नारायण की सुख-सेज बने अनंत के अवतार लक्ष्मण भले ही भीगते रहे, उनका दुपट्टा, उनका अहर्निशि जागर न भीजे, शेषी नारायण के ऐश्वर्य का गौरव अनंत शेष के जागर-संकल्प से ही सुरक्षित हो सकेगा और इन दोनों का गौरव जगज्जननी आद्याशक्ति के अखंड सौभाग्य, सीमंत, सिंदूर से रक्षित हो सकेगा, उस शक्ति का एकनिष्ठ प्रेमपाकर राम का मुकुट है, क्योंकि राम का निर्वासन वस्तुतः सीता का दुहरा निर्वासन है। राम तो लौटकर राजा होते हैं, पर रानी होते ही सीता राजा राम द्वारा वन में निर्वासित कर दी जाती हैं। राम के साथ लक्ष्मण हैं, सीता है, सीता वन्य पशुओं से घिरी हुई विजन में सोचती हैं—प्रसव की पीड़ा हो रही है, कौन इस वेला में सहारा देगा, कौन प्रसव के समय प्रकाश दिखलाएगा, कौन मुझे सँभालेगा, कौन जन्म के गीत गाएगा?

कुर्सी पर पड़े-पड़े यह सब सोचते-सोचते चार बजने को आए, इतने में दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक पड़ी, चिरंजीवी निचली मंजिल से ऊपर नहीं चढ़े, सहमी हुई कृष्णा (मेरी मेहमान लड़की) बोली—दरवाजा खोलिए। आँखों में इतनी कातरता कि कुछ कहते नहीं बना, सिर्फ इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अंदाज होगा कि हम कितने परेशान रहे हैं। भोजन-दूध धरा रह गया, किसी ने भी छुआ नहीं, मुँह ढाँपकर सोने का बहाना शुरू हुआ, मैं भी स्वाति की साँस लेकर बिस्तर पर पड़ा, पर अर्धचेतन अवस्था में फिर जहाँ खोया हुआ था, वहीं लौट गया। अपने लड़के घर लौट आए, बारिश से नहीं संगीत से भीगकर, मेरी दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन-वन भीग रहे हैं। तेज बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टप-टप बूँदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिकें, तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर बारिश

पीठ 'गलाने लगती है। जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाये चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता है, है, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनाहट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गए हैं, तुम्हारे कहे जानेवाले कोई भी हो सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बँटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हज़ार चीजों में। दूसरे कुछ पतियाँ भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूँ या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूँ कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिंता किसी के लिए होती है, वह चिंता क्या पराए के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है ? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आए हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनाना ही अपनाने की उनकी बड़ी हुई शर्त नहीं है ?

.....

## 6. समस्या

**लेखक परिचय :-** महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के बैसवारा रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में 15 मई 1864 को हुआ था। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी आई पी रेलवे में नौकरी मिल गई। 25 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में एक वर्ष का प्रवास के बाद में उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी होने के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रूपये मासिक वेतन की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिन्दी साहित्य का दूसरा युग द्विवेदी युग (1900-1920) के नाम से जाना जाता है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। कविता, कहानी, आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। 1904 में नौकरी से त्यागपत्र देने के पश्चात् स्थायी रूप से 'सरस्वती' के संपादन कार्य में लग गये। 200 रूपये मासिक की नौकरी त्यागकर मात्र 20 रूपये



प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। अत्यधिक रूग्ण होने के कारण 21 दिसम्बर 1938 को रायबरेली में इनका स्वर्गवास हो गया।

.....

यह बात दिन—प्रतिदिन प्रत्यक्ष होती जाती है कि संसार तब तक मनुष्य का संसार नहीं हो सकता जब तक सभी भिन्न—भिन्न देश मिलकर उसे उसका असली रूप प्रदान कराने को सचेष्ट नहीं होते। यह न अकेले किसी एक देश का काम है और न अकेले उसके मन की ही बात है। इसके लिए तो संसार के सभी देशों को प्रयत्नशील होना होगा। इस सम्बन्ध में संसार के कुछ देशों में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं उन्हें इस बात को भेले प्रकार समझ लेना चाहिए कि केवल बाहरी अवस्थाओं के परिवर्तन से ही हम संसार को उसके उपयुक्त स्थान पर नहीं बिठा सकते। निस्सन्देह उसकी बाहरी अवस्थाओं में भी परिवर्तनों की आवश्यकता है, सम्पत्ति के समुचित विभाजन, सभी श्रेणी के मनुष्यों को जीवन में समान अवसर आदि बातों में परिवर्तन होने ही चाहिए। इन बातों की ओर पूर्वोक्त शक्तियाँ यथाशक्ति कार्य भी कर रही हैं तो भी यह कहना ती पड़ता है कि अकेले इसी ओर लगे रहने से हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा। उनके लिए हमें लोगों की नैतिक भावनाओं का भी संस्कार करना पड़ेगा, हमें उन्हें अधिक बलवान् और प्रभावशाली बनाना होगा।

यहाँ हमें यह बात निर्भय होकर कह देनी पड़ेगी कि संसार के समुन्नत राष्ट्रों की राष्ट्रीय गतिविधियाँ अधार्मिक पुट से सम्पुटित हैं। उनमें सार्वजनिक भालाई और निःस्वार्थता का अभाव है। इसी कारण हम प्रतिस्पर्द्धा के वायुमण्डल में पथभ्रष्ट हो रहे हैं और हममें किसी एक आकांक्षा की पूर्ति होती नहीं देख पड़ती। एक राष्ट्र अपने राष्ट्र की हित—कामना की ही दृष्टि से दूसरे राष्ट्र से सम्बन्ध स्थापित करता है। इस हित—कामना में प्रतिस्पर्द्धा की

पूरी छाप रहती है। ऐसी दिशा में सार्वजनिक भालाई के भाव को कौन पूछता है। जहाँ अपनी—अपनी पड़ी है, वहाँ लोक—कल्याण की भावना को पुरस्कृत करने को कौन आगे आवेगा। ईसा के चार सौ वर्ष पहले एक चीनी तत्वदर्शी ने कहा था, “राज्यों की एक—दूसरे पर चढ़ाई, परिवारों का एक—दूसरी की सम्पत्ति का अपहरण, शासन में दया का अभाव, मन्त्री में अपने राजा के प्रति भक्ति का अभाव, पिता—पुत्र में पारस्परिक कर्तव्यों में त्रुटि आदि बातें किसी राज्य के लिए हितकर नहीं हैं। पारस्परिक प्रेम के अभाव के कारण ही इनका उद्भव हुआ है। यदि एकमात्र प्रेम—भावना का ही सर्वत्र प्रचार हो जाय तो पारस्परिक प्रेम के अस्तित्व के कारण राजा लोग आपस में न लड़ेंगे, कुटुम्ब का अधिपति अपने कुटुम्बियों के स्वत्वों का अपहरण नहीं करेगा, लोग डाके डालना छोड़ देंगे, शासक और राजकर्मचारी दयालु और एक—दूसरे के अनुरक्त हो जायेंगे, पिता पुत्र पर दयालु और पुत्र पिता का भक्त हो जायेगा और भाइयों में मेल बना रहेगा। प्रेम के ही प्रभाव से सबल निर्बलों को न सतायेंगे, धनी दीन का अनादर न करेगा; श्रेष्ठ जन नीचों का तिरस्कार नहीं करेंगे और चालाक लोग सीधे—सादे को न ठगेंगे।” पूर्वोक्त तत्वदर्शी का यह कथन आज भी अक्षर—अक्षर सत्य है।

सुधीजन तथा लोकनायक इस बात का मर्म समझते हैं कि संसार को उपयुक्त बनाने के लिए जातियों की वैमनस्यता वांछनीय नहीं है, उसका निर्मूलन जितना ही शीघ्र हो जाय उतना ही अच्छा है; क्योंकि भय का स्थल वास्तव में यही एक बात है। इसके लिए हमें अपनी शत्रुताएँ भुला देनी पड़ेंगी और सार्वजनिक बन्धु—भाव के प्रचार के लिए कार्य—क्षेत्र में अवतीर्ण होना पड़ेगा, जीवन के आदर्शों के लिए हमें नये उत्साह से काम करना पड़ेगा, और निःस्वार्थता की नूतन भावना तथा सार्वजनिक सेवा का भाव

अपनी कार्य—व्यवस्था में जोड़ना पड़ेगा। तभी अपने लक्ष्य की ओर हम अग्रसर हो सकेंगे।

स्वदेश—प्रेम धूर्तों का सबसे भयंकर ढोंग है। यह एक विद्वान् का कथन है और कहा भी गया है बड़े सोच—विचार एवं अनुभव के पश्चात्। सचमुच स्वदेश—प्रेम मनुष्य के लिए गौरव की वस्तु नहीं, वरन् लज्जा की बात है। जब तक संसार में इसका एक अणुमात्र भी शेष रहेगा तब तक शायद संसार में शान्ति न हो सकेगी। संसार में आजकल जो चारों ओर घोर हाहाकार सुनायी दे रहा है उसका मूल कारण है यही स्वदेश—प्रेम। अतएव जब तक प्रत्येक मनुष्य अपनी राष्ट्रीयता का सम्पूर्ण विस्मरण नहीं कर देता तब तक न तो संसार के ही कल्याण की आशा है और न किसी देश—विशेष का ही सच्चा उत्थान हो सकता। स्वदेश—प्रेम से मनुष्य के हृदय में एक मिथ्या अहंकार का उदय होता है, उसकी बुद्धि संकुचित हो जाती है, यहाँ तक कि उसके प्रत्येक कार्य में, उसकी प्रत्येक इच्छा में, एक घृणित स्वार्थ की दुर्गन्ध आने लगती है।

यह विषाक्त स्वदेश—प्रेम यूरोप की उपज है और शोक तो इस बात का है कि वह अभी तक इसकी भयंकरता का यथार्थ अनुभव नहीं कर पाया है। इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप ने जिस वैज्ञानिक सभ्यता का निर्माण किया है वह सर्वथा चमत्कारिक है, उससे मनुष्य—जीवन में बहुत—सी सुविधाएँ हो गयी हैं। किन्तु जहाँ एक ओर हम विज्ञान के चमत्कार पर मुग्ध हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके रौद्र रूप से भी हमारा हृदय भीतर—ही—भीतर काँपा करता है। जिस समय विगत यूरोपीय महायुद्ध में जर्मनों 50 मील लम्बा गोला फेंकनेवाली तोपों से पेरिस को उड़ा देना चाहता था, उसी समय यूरोप के विद्वानों के कान खड़े हो गये थे। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि बस, यही संसार का अन्तिम युद्ध हो। चारों ओर से स्वाधीनता और स्वभाग्य—निर्णय की दुहाइयाँ दी

गयीं। किन्तु परिणाम क्या हुआ—टाँय टाँय फिस। स्वदेशाभिमानी कूटनीतिज्ञों की कृपा से स्वाधीनता और स्वभाग्य—निर्णय के सिद्धान्त हवा हो गये। जिस आशा से संसार के लगभग एक करोड़ मनुष्यों ने रणदेवी को तृप्त करने के लिए अपने प्राणों की आहुति दी थी वह सर्वथा विफल हुई। न जाने अकाल—मृत्यु के मुख में प्रवेश करनेवाले इन नवयुवकों में कितने अपने भविष्य—जीवन में महापुरुष हो जाते, उनसे संसार का कितना उपकार होता। धन और वैभव का नाश हुआ सो तो हुआ, किन्तु इस नर—नाश की असीम हानि का कोई हिसाब नहीं लगाया जा सकता। इतने पर भी यदि यूरोप की आँखें नहीं खुलती तो फिर खुदा हाफ़िज। क्योंकि अब तो पचास मील के स्थान में सौ मील दूर गोला फेंकनेवाली तोपों का निर्माण हो चुका है। ईश्वर न करे, फिर कभी संसार में महायुद्ध की आग भड़के। नहीं तो उसको बुझाने की चेष्टा करने के पहले ही हम सब भस्मसात् हो जायेंगे। मतलब यह कि यदि हमने शीघ्र ही युद्ध को नष्ट करने की चेष्टा नहीं की तो युद्ध बहुत जल्दी ही हम सबको हड़प जायेगा।

पाश्चात्य देशों में कुछ विचारशील पुरुष इस तथ्य से सर्वथ बेख़बर नहीं हैं। जहाँ—जहाँ निरस्त्रीकरण—सम्बन्धी कान्फ़रेन्सें हुआ करती हैं। लीग ऑफ़ नेशन्स को भी हम इसी विचार का परिणाम कह सकते हैं। किन्तु अभी यह केवल नाम—ही—नाम है। वास्तव में जिस शिला पर उसकी भित्ति स्थापित की गयी है वह कभी टिक ही नहीं सकती। आज से बहुत दिन पहले यूनान के नामी दार्शनिक अरिस्टाइल ने कहा था कि स्वार्थसाधन की दृष्टि से जिस मैत्री की उत्पत्ति होती है वह कभी स्थायी नहीं हो सकती, क्योंकि जहाँ स्वार्थ सध गया, तहाँ दोस्ती टूट गयी। राजनैतिक मामलों में तो रोज़ ही ऐसी दोस्तियाँ बनती—बिगड़ती रहती हैं। जो देश या राष्ट्र आज हमारा परम मित्र मालूम होता है, वही कल हमारा छिपा हुआ अथवा प्रकट शत्रु बन जाता है। इतिहास में इसके एक दो नहीं, सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। अंग्रेज़ी में एक

उक्ति प्रचलित है कि डोवर और केले कभी नहीं मिल सकते। किन्तु विगत महायुद्ध में डोवर के वही अंग्रेज़ तथा केले के वही फ्रेंच एक साथ कन्धे—से कन्धा मिलाकर लड़ते हुए देखे गये। सारांश यह कि स्वार्थमय और सिद्धान्तहीन मैत्री कोई मैत्री नहीं।

इसके अतिरिक्त लीग ऑफ़ नेशन्स की पेंदी में एक और बड़ा छेद है। यह श्वेतांगों के दृष्टिकोण का दोष है। विचारशील पुरुषों की बात हम नहीं कहते। पाश्चात्य देशों के अधिकांश लोगों में यह भाव समाया हुआ है कि श्वेतांगों को काले रंगवालों पर राज करने का सहज और स्वाभाविक स्वत्व प्राप्त है। एशियाइयों और अफ़रीकावासियों पर इनके द्वारा कैसे ही भयंकर अत्याचार होते रहें किन्तु यूरोप, अमरीका में किसी के कान पा जूँ नहीं रेंगती। बात यह कि जिस प्रकार गिद्ध का बाज़ पर और बाज़ का जुर्रे पर तथा जुर्रे का कौर्य पर टूट पड़ना सहज और स्वाभाविक है, उसी प्रकार श्वेतांग लोगों ने एशियाइयों और अफ़रीकावासियों का स्वेच्छानुसार उपभोग करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मान लिया है। यही सारी लड़ाई और बुराई की जड़ है। यदि एशिया या अफ़रीका में कोई खान निकल आती है तो तुरन्त पाश्चात्य राष्ट्रों के मुँह में पानी आने लगता है। प्रत्येक राष्ट्र, साम, दाम, दण्ड, भेद कोई—न—कोई ऐसी हिकमत लड़ाना चाहता है कि उसका कुछ—न—कुछ हिस्सा उसके हाथ लग जाय। जिन ग़रीबों के देश में वह खान निकलती है वे बेचारे पूँजी, शिक्षा तथा सैनिक सामर्थ्य के अभाव से मुँह ताकते रह जाते हैं। भाग्य की कैसी दारुण विडम्बना है। अर्थलोलुपता की इसी प्रतिद्वन्द्विता के कारण इन लोगों में कभी—कभी मनोमालिन्य और कभी—कभी मुठभेड़ तक हो जाती है।

इसी मुठभेड़ से बचने के लिए लीग ऑफ़ नेशन्स की स्थापना की गयी है। इसका मूल सिद्धान्त है कि संसार में (निस्सन्देह यहाँ

केवल श्वेतांग देशों से ही मतलब है) सदैव शक्ति-सामंजस्य हो अर्थात् कोई एक अथवा दो-एक राष्ट्र मिलकर संसार के अन्य राष्ट्रों को नीचा न दिखा सकें। शक्ति-सामंजस्य के अनुसार निरस्त्रीकरण-सम्बन्धी कान्फ़रेन्स ने एक योजना भी तैयार कर दी थी कि अमुक-अमुक राष्ट्र के पास इतने लड़ाई के जहाज़ हों। बस, इन्हीं निर्जीव उपायों से पाश्चात्य देश राजनैमिक संसार में शान्ति-स्थापना करना चाहते हैं। इनमें से निस्सन्देह कुछ सच्चे और न्यायप्रिय भी हैं। किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे धार्मिक नियमों को सामाजिक नियमों की भाँति-स्थापना करना चाहते हैं। इनमें से निस्सन्देह कुछ सच्चे और न्यायप्रिय भी हैं। किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वे धार्मिक नियमों को सामाजिक नियमों की भाँति भौगालिक सीमा से बाँधना चाहते हैं। सच्चे-से-सच्चे और न्यायप्रिय-से-न्यायप्रिय यूरोपिय के हृदय में भी काले मनुष्यों के प्रति किये गये अत्याचारों का बड़ी मुश्किल से कुछ भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु हमारी समझ में इस तथ्य को हृदयंगम करने के लिए अधिक बुद्धि की ज़रूरत नहीं कि जब तक पाश्चात्य देश एशियाइयों और आफ्रीकावासियों पर आँख मूँदे अत्याचार करते चले जा रहे हैं, जब तक वे इनके दुःखों का अनुभव कर उनको दूर करने की चेष्टा नहीं करते, तब तक शक्ति-सामंजस्य की एक क्या, सैंकड़ों योजनाओं से भी संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को अपनी अनोखी सूझ से एक ही शब्द में समझा दिया है। उन्होंने इस लीग को मस्त हाथियों की समाज से उपमा दी है। वे कहते हैं—निर्बल सबलों के लिए उतने ही भयानक हैं जितना कि हाथियों को दलदल। उस पर कोई आगे नहीं बढ़ सकता, क्योंकि उसमें प्रतिरोध करने की शक्ति ही नहीं रहती, वह उस भारी बोझ को अपने भीतर ही खींचने की चेष्टा करता है। राजनीतिज्ञों की दृष्टि केवल हथियारबन्द सैनिकों पर रहती है, उन्हीं के बलाबल का वे

हिसाब लगाया करते हैं, उनके पास वह तृतीय नेत्र नहीं जिसके द्वारा वे असहायों को सहारा देनेवाले उस अतिरिक्त हाथ के दर्शन कर सकें जो सदा अपने कर्तव्य के लिए तैयार रहता है। यद्यपि उसके प्रत्यक्ष होने में कुछ समय लगता है, तथापि वह उनको मज़बूती से पकड़ता है। अन्त में वह दिन आता है जब सबलों को नीचा देखना पड़ता है। बात यह है कि लीग ऑफ़ नेशन्स जैसी मशीनों द्वारा निर्मित शान्ति कभी स्थायी नहीं हो सकती।

किन्तु केवल युद्ध ही राष्ट्रीयता का एकमात्र दुष्परिणाम नहीं है। राष्ट्रीयता के कारण स्वयं वैज्ञानिक सभ्यता की प्रगति बन्द हो रही है। आधुनिक संसार की प्रत्येक दिशा में गड़बड़ फैली हुई है। उदाहरण के लिए हम लोगों की भाषाएँ भिन्न हैं, कानून भिन्न हैं, सिक्के भिन्न हैं, परिच्छेद भी भिन्न हैं। यदि आधुनिक संसार को उन्नति के पथ पर और भी आगे अग्रसर होना है, यदि हम विज्ञान और व्यवसाय की अवलेहना करने को तैयार नहीं हैं, तो उपर्युक्त विभिन्नताएँ तुरन्त दूर हो जाना चाहिए, क्योंकि ये हमारे ध्येय के साधक नहीं, वरन् बाधक हैं। आधुनिक विज्ञान और व्यवसाय को आगे बढ़ाने के लिए अब हमें एक संसारव्यापी भाषा एवं सार्वजनिक सिक्कों की बड़ी आवश्यकता है। मनुष्यमात्र का यदि एक ही धर्म हो जाय तो फिर कहना ही क्या। किन्तु इसमें सबसे बड़ा रोड़ा है राष्ट्रीयता। परन्तु यदि हम इस सभ्यता को सार्थक बनाना चाहते हैं तो हमें बिना संकोच के इन विभिन्नताओं को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए, अन्यथा संसार में न तो शान्ति हो सकती है और न सुख।

आधुनिक विज्ञान का निष्कर्ष भी यही कहता है। आज संसार का सम्बन्ध पहले की अपेक्षा कहीं अधिक घनिष्ठ हो गया है। किन्तु इस वृद्धि-क्रम का इसी जगह अन्त नहीं हो सकता, भविष्य में उसमें आज से भी अधिक घनिष्ठता होना अनिवार्य है। पहले इंग्लैण्ड से भारतवर्ष तक की यात्रा में छह मास से अधिक लगता

था, आज तीन सप्ताह लगते हैं, किन्तु थोड़े ही दिनों में केवल तीन ही दिन लगेंगे। पहले एक—दूसरे देश से इतना अधिक सम्पर्क नहीं था जितना आज है। यदि जर्मनी या रूस में आज लोग दुःखी और क्षुधातुर हैं तो यह केवल जर्मनी और रूसियों के ही लिए चिन्ता का विषय नहीं है, किन्तु दूसरे देशों के व्यवसाय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में, आधुनिक संसार एक शरीर के सदृश है, उसका कोई अवयव सर्वथा पृथक् नहीं हो सकता। यदि वह अकेला छोड़ दिया जायेगा तो कुछ दिनों में सड़ जायेगा तथा दूसरे अंगों में दुर्गन्ध फैलाने का कारण होगा। यदि एक देश में शिल्पकला का अभ्युदय होता है तो दूसरे देशों का व्यवसाय बढ़ जाता है, यदि किसी देश का दिवाला निकलता है तो दूसरे देशों का बाज़ार भी मन्दा पड़ जाता है। इस उत्तरोत्तर बढ़नेवाली घनिष्ठता से पूरा—पूरा लाभ उठाने के लिए हमें देशों और देशों के बीच में अनावश्यक बाधा डालनेवाली सभी प्रथाएँ दूर कर देना चाहिए। किसी—किसी देश में एशियाइयों और अफ़्रीकावासियों के विरुद्ध प्रवेश—निषेध के जो कानून बनाये गये हैं वे तो वर्तमान सभ्यता पर सबसे बड़ा कलंक हैं। हमें विद्वानों के परामर्श से एक ऐसी सार्वजनिक भाषा का संस्कार कर लेना चाहिए जो आसानी के साथ संसार के शिक्षित समुदाय द्वारा सीखी जा सके। इसी प्रकार प्रत्येक देश में एक से ही सिक्के तोल और लम्बाई के एक से ही माप के चलने चाहिए। इससे कोई हानि नहीं, साथ ही अन्तरराष्ट्रीय व्यापार में अचिन्त्य लाभ होने की सम्भावना है।

बहुत—से कह सकते हैं कि ये सब स्वप्न की बातें हैं, अथवा पागलों का प्रलाप है। किन्तु यदि संसार को अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करना है तो वह इन प्रश्नों को बहुत दिन तक नहीं टाल सकता। वास्तव में अभी तक पाश्चात्य देशों ने ठीक—ठीक यह पता नहीं पाया है कि सभ्यता और शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य क्या है। अधिकांश लोगों का जीवन बचपन से लेकर मरण—पर्यन्त केवल पेट भरने में ही बीतता है। पेट—पूजा ही



उनके जीवन में सतत परिश्रम का अन्तिम ध्येय है। किन्तु क्या इन्द्रिय—तृप्ति से मानवीय हृदय सन्तुष्ट हो सकता है ? जब हम जीवन के उद्देश्य को समझ लेते हैं तभी हमें अपने और संसार के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ बोध हो सकता है। तभी हमें सार्वजनिक भ्रातृभाव, अन्तर्जातीय सहानुभूति तथा विश्व—नागरिकता का असली अनुभव हो सकता है। उस समय विज्ञान की भी कायापलट हो जायेगी, वह ऐसे साधन ढूँढ़ निकालेगा जिससे यह विशाल कुटुम्ब अविच्छिन्न रूप से एकता के सूत्र में बँध जाये। जीवन की प्रत्येक शाखा का दृष्टिकोण बदल जायेगा, हम किसी प्रश्न पर अनुदार स्वदेश—प्रेम—जनित अहम्मन्यता एवं असहिष्णुता से विचार नहीं कर सकेंगे। हम केवल उन्हीं योजनाओं में तल्लीन होंगे जिनसे बिना किसी भेद—भाव के मनुष्य—भाव का कल्याण होने की आशा हो। तभी हमें राष्ट्रीयता की निरर्थकता तथा अन्तर्जातीय समवेदना का प्रत्यक्ष अनुभव होगा। हम किसी देश—विशेष के नागरिक न होकर सारे विश्व के नागरिक होंगे। वास्तव में यह कोई नवीन सिद्धान्त नहीं, भारतवर्ष के सामने तो अनादिकाल से (वसुधैव कुटुम्बकम्) का आदर्श रहा है। किन्तु संसार में एक भी ऐसा धर्म नहीं जिसने मनुष्यमात्र के भ्रातृत्व को स्वीकार न किया हो, पर आश्चर्य तो इस बात का है कि आज वही धर्म भ्रातृभाव की स्थापना में बाधक हो रहे हैं।

संसार की वर्तमान विकट समस्या को हल करने के लिए हमें राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धाओं और वैमनस्यों से हाथ खींच लेने पड़ेंगे। राष्ट्र के परे भी कोई वस्तु है। राष्ट्रों का अस्तित्व उसी वस्तु के लिए है। और वह है मानव—जातीयता। संसार के पुनर्निर्माण की नवीन समस्याओं पर हमें आदर्श अन्तरराष्ट्रीयवाद की दृष्टि से ही विचार करना होगा। राष्ट्रों को अन्तरराष्ट्रीय दृष्टि से अपने पथ पर अग्रसर होना होगा तभी हम सार्वजनिक भ्रातृभाव स्थापित कर सकेंगे और (वसुधैव कुटुम्बकम्)का आदर्श कार्य में परिणत हो सकेगा। संसार के उद्धार का एकमात्र यही साधन है

## 7. भारतीय संस्कृति

**लेखक परिचय :-** स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का जन्म 3 दिसम्बर 1884, को बिहार राज्य के छपरा जिले के जीरादेई नामक गाँव में हुआ था। इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एल.एल.एम. करने के बाद अध्यापन कार्य किया। 1911-20 तक पटना हाईकोर्ट में वकालत की। 1920 में वकालत छोड़कर देश सेवा में समर्पित हो गये। इनकी मृत्यु 1963 ई. में हुई।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद कुशल राजनेता के साथ ही अच्छे लेखक भी थे। भारतीय शिक्षा गाँधी जी की देन, साहित्य शिक्षा और संस्कृति, आत्मकथा इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। सन् 1910 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रथम काशी अधिवेशन में पुरुषोत्तमदास टण्डन से उनका परिचय हुआ था। कलकत्ता में पद्मसिंह शर्मा के परिचय फलस्वरूप वे हिन्दी लेखन की ओर उन्मुख हुए। 'भारतोदय' में सन् 1910 में उनकी प्रमुख लेख, 'समाज-संशोधन' प्रकाशित हुआ।

1920 ई. में पटना में सम्मेलन कोट अधिवेशन में स्वगत समिति के पदाधिकारी बने, और 1926 में नागपुर सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। इन्होंने अपनी सब रचनाएँ मौलिक रूप से हिन्दी में लिखी। इसी पर नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें मंगला प्रसाद पारितोषिक प्रधान किया और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद ने दो पुरस्कार-वर्यावृद्ध हिन्दी सेवी होने के नाते दूसरा गाँधी साहित्य पर सर्वोत्तम रचना (बापू के कदमों में) प्रधान किए।

.....

कोई विदेशी, जो भारत से बिल्कुल अपरिचित हो एक छोर से दूसरे छोर तक सफर करे तो उसको इस देश में इतनी

विभिन्नताएँ देखने में आएँगी कि वह कह उठेगा कि यह एक देश नहीं, बल्कि कई देशों का एक समूह है, जो एक—दूसरे से बहुत बातों में और विशेष कर के ऐसी बातों में जो आसानी से आँखों के सामने आती हैं, बिल्कुल भिन्न हैं। प्राकृतिक विभिन्नताएँ भी इतनी और इतने प्रकार की और इतनी गहरी नजर आएँगी जो किसी भी एक महाद्वीप के अंदर ही नजर आ सकती हैं। हिमालय की बर्फ से ढकी हुई पहाड़ियाँ एक छोर पर मिलेंगी और जैसे—जैसे वह दक्खिन की ओर बढ़ेगा, गंगा, जमुना, ब्रह्मपुत्र से प्लावित समतलों को छोड़कर फिर विन्ध्य, अरावली, सतपुडा, सह्याद्रि, नीलगिरि की श्रेणियों के बीच समतल हिस्से रंग बिरंगे देखने में आयेंगे। पश्चिम से पूर्व तक जाने में भी उसे इसकी विभिन्नताएँ देखने को मिलेंगी। हिमालय की सर्दी के साथ—साथ जो साल में कभी भी मनुष्य को गर्म कपड़ों से और आग से छुटकारा नहीं देती, समतल प्रांतों की जलती हुई लू और कन्याकुमारी का वह सुखद मौसम जिसमें न कभी सर्दी होती है न गर्मी, देखने को मिलेगी। अगर असम की पहाड़ियों में वर्ष में तीन सौ इंच वर्षा मिलेगी, तो जैसलमेर की तप्तभूमि भी मिलेगी जहाँ साल में दो—चार इंच भी वर्षा नहीं होती, कोई ऐसा अन्न नहीं, जो यहाँ उत्पन्न न किया जाता हो। कोई ऐसा फल नहीं, जो यहाँ पैदा नहीं किया जा सके। कोई ऐसा खनिज पदार्थ नहीं, जो यहाँ के भू—गर्भ में न पाया जाता हो और न कोई ऐसा वृक्ष अथवा जानवर है, जो यहाँ के फैले हुए जंगलों में न मिले। यदि इस सिद्धान्त को देखना हो कि आबहवा का असर इन्सान के रहन—सहन, खान—पान, वेश—भूषा, शरीर और मस्तिष्क पर पड़ता है तो उसका जीता जागता सबूत भारत में बसने वाले भिन्न—भिन्न प्रांतों के लोग देते हैं। इसी तरह मुख्य—मुख्य भाषाएँ भी कई प्रचलित हैं और बोलियों की तो कोई गिनती ही नहीं; क्योंकि यहाँ एक कहावत मशहूर है:

**“कोस—कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी”**

भिन्न—भिन्न धर्मों के मानने वाले भी जो सारी दुनिया के सभी देशों में बसे हुए हैं, यहाँ भी थोड़ी—बहुत संख्या में पाये जाते हैं और जिस तरह यहाँ की बोलियों की गिनती आसान नहीं, उसी तरह यहाँ भिन्न—भिन्न धर्मों के संप्रदायों की भी गिनती आसान नहीं। इन विभिन्नताओं को देखकर अगर अपरिचित आदमी घबड़ाकर कह उठे कि यह एक देश नहीं अनेक देशों का एक समूह है; यह एक जाति नहीं, अनेक जातियों का एक समूह है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। क्योंकि ऊपर से देखने वाले को, जो गहराई में नहीं जाता विभिन्नता ही देखने में आएगी। पर विचार करके देखा जाय तो इन विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है, जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है—जैसे रेशमी धागा भिन्न—भिन्न प्रकार की और विभिन्न रंग की सुंदर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है, जिसकी प्रत्येक मणि या फूल दूसरों से न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी ही सुन्दरता से लोगों को मोहता नहीं, बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है और इसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नहीं है, बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है, जो हजारों वर्षों से अलग—अलग अस्तित्व रखते हुए अनेकानेक जल—प्रपातों और प्रवाहों का संगमस्थल बनकर एक प्रकांड और प्रगाढ़ समुद्र के रूप में भारत में व्याप्त है जिसे भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। इन अलग—अलग नदियों के उद्गम भिन्न—भिन्न हो सकते हैं और रहे हैं। इनकी धाराएँ भी अलग—अलग बही है और प्रदेश के अनुसार भिन्न—भिन्न प्रकार के अन्न और फल—फूल पैदा करती रही है; पर सबमें एक ही शुद्ध, सुन्दर, स्वस्थ और शीतल जल बहता रहा है, जो उद्गम और संगम में एक ही हो जाता है।

आज हम इसी निर्मल, शुद्ध, शीतल और स्वस्थ अमृत की तलाश में हैं और हमारी इच्छा, अभिलाषा और प्रयत्न यह है कि वह इन सभी अलग-अलग बहती हुई नदियों में अभी भी उसी तरह बहता रहे और इनको वह अमर तत्व देता रहे, जो ज़माने के हजारों थपेड़ों को बरदाश्त करता हुआ भी आज हमारे अस्तित्व को कायम रखे हुए है और रखेगा जैसा कि हमारे कवि इकबाल कह गये हैं—

**“बाकी मगर है अब तक नामो-निशाँ हमारा  
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी,  
सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमाँ हमारा।”**

यह एक नैतिक और आध्यात्मिक स्रोत है, जो अन्त काल से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण देश में बहता रहा है और कभी-कभी मूर्त रूप होकर हमारे सामने आता रहा है। यह हमारा सौभाग्य रहा है कि हमने ऐसे ही एक मूर्त रूप को अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-रोते भी देखा है और जिसने अमरत्व की याद दिलाकर हमारी सूखी हड्डियों में नयी मज्जा डाल हमारे मृतप्राय शरीर में नये प्राण फूँके और मुरझाये हुए दिलों को फिर खिला दिया। वह अमरत्व सत्य और अहिंसा का है, जो केवल इसी देश के लिये नहीं, आज मानव मात्र के जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है। हम इस देश में प्रजातंत्र की स्थापना कर चुके हैं जिसका अर्थ है व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता जिसमें वह अपना पूरा विकास कर सके और साथ ही सामूहिक और सामाजिक एकता भी। व्यक्ति और समाज के बीच में विरोध का आभास होता है। व्यक्ति अपनी उन्नति और विकास चाहता है और यदि एक की उन्नति और विकास दूसरे की उन्नति और विकास में बाधक हो, तो संघर्ष पैदा होता है और यह संघर्ष तभी दूर हो सकता है जब सबके विकास के पथ अहिंसा के हों। हमारी सारी संस्कृति का मूलाधार इसी अहिंसा-तत्व पर स्थापित रहा है।

जहाँ—जहाँ हमारे नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन आया है, अहिंसा को ही उनमें मुख्य स्थान दिया गया है। अहिंसा का दूसरा नाम या दूसरा रूप त्याग है और हिंसा का दूसरा रूप या दूसरा नाम स्वार्थ है, जो प्रायः भोग के रूप में हमारे सामने आता है। पर हमारी सभ्यता ने तो भोग भी त्याग से ही निकाला है और भोग भी त्याग में ही पाया है। श्रुति कहती है—‘तेन त्यक्तेन भुज्जीथाः’ इसी के द्वारा हम व्यक्ति—व्यक्ति के बीच का विरोध व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध, समाज और समाज के बीच का विरोध, देश और देश के बीच के विरोध को मिटाना चाहते हैं। हमारी सारी नैतिक चेतना इसी तत्व से ओतप्रोत है। इसलिए हमने भिन्न—भिन्न विचारधाराओं की स्वच्छंदतापूर्वक अपने—अपने रास्ते बहने दिया। भिन्न—भिन्न धर्मों और सम्प्रदायों को स्वतंत्रतापूर्वक पनपने और भिन्न—भिन्न भाषाओं को विकसित और प्रस्फुटित होने दिया। भिन्न—भिन्न देशों के लोगों को अपने में अभिन्न भाव से मिल जाने दिया। भिन्न—भिन्न, देशों की संस्कृतियों को अपने में मिलाया और अपने को उनमें मिलने दिया और देश और विदेश में एकसूत्रता तलवार के जोर से नहीं, बल्कि प्रेम और सौहार्द से स्थापित की। दूसरों के हाथों और पैरों पर, घर और संपत्ति पर ज़बरदस्ती कब्जा नहीं किया; उनके हृदयों को जीता और इसी वजह से प्रभुत्व, जो चरित्र और चेतना का प्रभुत्व है, आज भी बहुत अंशों में कायम है, जब हम स्वयं उस चेतना को बहुत अंशों में भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं।

वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के उद्दंड परिणामों से अपने को सुरक्षित रखकर हम उनका उपयोग अपनी रीति से किस प्रकार करें—इस बारे में दो बातों का हमें बराबर ध्यान रखना है। पहली बात तो यह है कि हर प्रकार की प्रकृति—जन्य और मानव—कृत विपदाओं के पड़ने पर भी हम लोगों की सृजनात्मक शक्ति कम नहीं हुई। हमारे देश में साम्राज्य बने और मिटे, विभिन्न संप्रदायों का उत्थान—पतन हुआ, हम विदेशियों से

आक्रान्त और पद दलित हुए, हम पर प्रकृति और मानवों ने अनेक बार मुसीबतों के पहाड़ ढा दिये, पर फिर भी हम लोग बने रहे, हमारी संस्कृति बनी रही और हमारा जीवन एवं सृजनात्मक शक्ति बनी रही। हम अपने दुर्दिनों में भी ऐसे मनीषियों और कर्मयोगियों को पैदा कर सके जो संसार के इतिहास के किसी युग में अत्यन्त उच्च आसन के अधिकारी होते। अपनी दासता के दिनों में हमने गाँधी जैसे कर्मठ, धर्मनिष्ठ, क्रान्तिकारी को, रवीन्द्र जैसे मनीषी कवि को और अरविन्द तथा रमण महर्षि जैसे योगियों को पैदा किया और उन्हीं दिनों में हमने ऐसे अनेक उद्भट विद्वान और वैज्ञानिक पैदा किये, जिनका सिक्का संसार मानता है। जिन हालतों में पड़कर संसार की प्रसिद्ध जातियाँ मिट गयीं, उनमें हम न केवल जीवित ही रहे वरन अपने आध्यात्मिक और बौद्धिक गौरव को बनाये रख सके। उसका कारण यही है कि हमारी सामूहिक चेतना ऐसे नैतिक आधार पर ठहरी हुई है, जो पहाड़ों से भी मज़बूत समुद्रों से भी गहरी और आकाश से भी अधिक व्यापक है।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में विचारणीय है, वह यह है कि संस्कृति अथवा सामूहिक चेतना ही हमारे देश का प्राण है। इसी नैतिक चेतना के सूत्र से हमारे नगर और ग्राम, हमारे प्रदेश और संप्रदाय हमारे विभिन्न वर्ग और जातियाँ आपस में बँधी हुई है। जहाँ उनमें और सब तरह की विभिन्नताएँ हैं, वहाँ उन सब में यह एकता है। इसी बात को ठीक तरह से पहचान लेने से बापू ने जनसाधारण को बुद्धिजीवियों के नेतृत्व में क्रान्ति करने के लिये तत्पर करने के लिये इसी नैतिक चेतना का सहारा लिया था। अहिंसा, सेवा और त्याग की बातों से जनसाधारण का हृदय इसीलिए आन्दोलित हो उठा; क्योंकि उन्हीं से तो वह शताब्दियों से प्रभावित और प्रेरित रहा। जनसाधारण के हृदय में उनकी धड़कती चेतना को क्रान्ति की शक्ति बनाने में ही बापू की दूरदर्शिता थी और इसी में उनकी सफलता थी।

मैं तो यही समझता हूँ कि यदि हमें अपने समाज और देश में उन सब अन्यायों और अत्याचारों की पुनरावृत्ति नहीं करनी है, जिनके द्वारा आज के सारे संघर्ष उत्पन्न होते हैं, तो हमें अपनी ऐतिहासिक, नैतिक चेतना या संस्कृति के आधार पर ही अपनी आर्थिक व्यवस्था बनानी चाहिए अर्थात् उसके पीछे वैयक्तिक लाभ और भोग की भावना प्रधान न होकर वैयक्तिक त्याग और सामाजिक कल्याण की भावना ही प्रधान होनी चाहिए। हमारे प्रत्येक देशवासी को अपने सारे आर्थिक व्यापार उसी भावना से प्रेरित होकर करने चाहिए। वैयक्तिक स्वार्थों और स्वत्वों पर जोर न देकर वैयक्तिक कर्तव्य और सेवा-निष्ठा पर जोर देना चाहिए और हमारी प्रत्येक कार्यवाही इसी तराजू पर तौली जानी चाहिए। किसी भी क्रिया के पीछे जो भावना निहित होती है, उसका बड़ा प्रभाव हुआ करता है और परिणाम भी, यद्यपि देखने में क्रिया का रूप एक ही क्यों न हो। एक छोटे से उदाहरण से यह बात स्पष्ट की जा सकती है। एक सम्मिलित परिवार है जिसका प्रत्येक व्यक्ति इसी भावना से काम करता है कि उसका कर्तव्य है कि सभी व्यक्तियों की अधिक से अधिक वह सुख पहुँचा सके और प्रत्येक व्यक्ति पूरी शक्ति लगाकर जितना भी उपार्जन किया जा सकता है, करता है। सबका सामूहिक उपार्जन मान लीजिए कि एक रकम होती है जिससे अधिक उपार्जन करने की शक्ति परिवार में नहीं हो। उसी परिवार का प्रत्येक व्यक्ति इस भावना से काम करता है कि उसको अपने सुख के लिए अधिक से अधिक उपार्जन करना चाहिए और उपार्जन करता हो तो भी सब व्यक्तियों का सामूहिक उपार्जन उतना होगा जितना कि प्रथमोक्त स्थिति में और सामूहिक संपत्ति दोनों स्थितियों में बराबर होगी और उसका बराबर बँटवारा कर दिया जाय तो प्रत्येक को बराबर ही सुख होगा। पर इन दोनों स्थितियों में बहुत बड़ा अंतर यह पड़ जाएगा कि पहली स्थिति में संघर्ष का कोई भय नहीं, क्योंकि कोई केवल अपने लिए कुछ नहीं कर रहा है और दूसरे में संघर्ष



अनिवार्य है; क्योंकि प्रत्येक अपने लिए कुछ नहीं कर रहा है। हम समझते हैं कि हमारी संस्कृति का तकाजा है कि पहली स्थिति में हम अपने को लायें और यदि संसार का संघर्ष मिटाना है तो उसी भावना को सर्वमान्य बनाना होगा। जब तक ऐसा नहीं होता संघर्ष, चाहे वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच का हो चाहे देश-देश के बीच का हो, वर्तमान रहेगा ही।

आज विज्ञान मनुष्यों के हाथों में अद्भुत और अतुल शक्ति दे रहा है, उसका उपयोग एक व्यक्ति और समूह के उत्कर्ष और दूसरे व्यक्ति और समूह के गिराने में होता ही रहेगा। इसलिए हमें उस भावना को जाग्रत रखना है और उसे जाग्रत रखने के लिए कुछ ऐसे साधनों को भी हाथ में रखना होगा, जो उस अहिंसात्मक त्याग भावना को प्रोत्साहित करे और भोग भावना को दबाये रखे। नैतिक अंकुश के बिना शक्ति मानव के लिए हितकर नहीं होती। वह नैतिक अंकुश यह चेतना या भावना ही दे सकती है वही उस शक्ति को परिमित भी कर सकती है और उसके उपयोग को नियंत्रित भी।

वर्तमान युग में भारतीय संस्कृति के समन्वय के प्रश्न के अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि भारत की प्रत्येक प्रादेशिक भाषा की सुन्दर और आनन्दप्रद कृतियों का स्वाद भारत के अन्य प्रदेशों के लोगों को कैसे चखाया जाय। मैं समझता हूँ कि इस बारे में दो बातें विचारणीय हैं। क्या इस सम्बन्ध में यह उचित नहीं होगा कि प्रत्येक भाषा की साहित्यिक संस्थाएँ उस भाषा की कृतियों को संघ-लिपि अर्थात् देवनागरी में भी छपवाने का आयोजन करें। मुझे विश्वास है कि कम से कम जहाँ तक उत्तर की भाषाओं का सम्बन्ध है, यदि वे सब अपनी कृतियों को देवनागरी में भी छपवाने लगे तो उनका स्वाद लगभग सारे उत्तर भारत में लोग आसानी से ले सकेंगे, क्योंकि इन सब भाषाओं में

इतना साम्य है कि एक भाषा का अच्छा ज्ञाता दूसरी भाषाओं की कृतियों को स्वल्प परिश्रम से समझ जाएगा।

दूसरी बात यह है, ऐसी संस्था की स्थापना की जाये, जो इस सब भाषाओं में आदान-प्रदान का सिलसिला अनुवाद द्वारा आरम्भ करे। यदि सब भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला सांस्कृतिक संगम स्थापित हो जाता है तो इस बारे में बड़ी सहूलियत होगी। साथ ही, वह संगम साहित्यिकों को प्रोत्साहन भी प्रदान कर सकेगा और अच्छे साहित्य के स्तर के निर्धारण और सृजन करने में पर्याप्त अच्छा कार्य कर सकेगा। साहित्य संस्कृति का एक व्यक्त रूप है। उसके दूसरे रूप गान, नृत्य, चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला इत्यादि में देखे जाते हैं। भारत अपनी एक सूत्रता इन सब कलाओं द्वारा प्रदर्शित करता आया है।

इन सब विषयों पर हमको इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रखकर विचार करना है, जो इस भवन में शाहजहाँ ने उसके निर्माण के पश्चात् खुदवा दी थी। उसने गर्व के साथ खुदवा दिया था:

**“गर फिरदौस बस रुए जमीनस्त,  
हमींअस्तो, हमींअस्तो, हमींअस्त।”**

(यदि पृथ्वी पर स्वर्ग कहीं है तो यहाँ ही है, यहाँ ही है) यह स्वप्न तभी सत्य होगा और पृथ्वी पर स्वर्ग तो तभी स्थापित होगा जब अहिंसा, सत्य और सेवा का आदर्श सारे भूमण्डल में मानव जीवन का मुख्य आधार और प्रधान प्रेरक शक्ति हो गया होगा।

.....

## 8. मित्रता

**लेखक परिचय:**— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश में बस्ती जिले के अगौना नामक गाँव में सन् 1884 में हुआ था। सन् 1893 में मिर्जापुर के एंग्लो—संस्कृत जुबली स्कूल में चौदह वर्ष की उम्र में मिडिल पास किया। स्कूल में उर्दू, अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के साथ, हिन्दी, संस्कृत का ज्ञान स्वाध्याय से प्राप्त किया। 1904 में नायब तहसीलदार बनने के सुयोग को उन्होंने ठुकरा दिया। आजीविका हेतु मिर्जापुर के लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर के पद पर कार्य किया। भारतेन्दु—मंडल के बदरीनारायण चौधरी की प्रेरणा से साहित्य सेवा का मार्ग अपनाया।

‘भारत और बसन्त’ नाम से उनका पहला लेख 1896—98 में आनन्द कादम्बिनी में प्रकाशित हुआ। 1908 ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आमंत्रण पर हिन्दी शब्द सागर के सम्पादन में योगदान दिया। 1912 में नागरी प्रचारिणी पत्रिका के संपादक का दायित्व संभाला। लंबी अस्वस्थता के कारण 2 फरवरी 1914 ई. को उनका निधन हो गया।

इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं:— हिन्दी साहित्य का इतिहास रस—मीमांसा, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, त्रिवेणी (आलोचनात्मक ग्रंथ) जायसी ग्रन्थावली, भ्रमरगीत सार, तुलसी ग्रन्थावली, कुसुम संग्रह (संपादित ग्रन्थ) लाइट ऑफ एशिया का ब्रजभाषा—पद्य में बुद्धचरित शीर्षक से अनुवाद तथा बंगला उपन्यास शशांक का हिन्दी अनुवाद प्रमुख है। चिन्तामणि भाग 1,2,3,4 (निबन्ध) ,चिन्तामणि पर हिन्दी—साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की ओर से मंगलाप्रसाद पारितोषक का भी प्रदान किया गया।

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिल्कुल एकान्त और निराली नहीं रहती तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता का रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगति का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय में समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरम्भ करते हैं जबकि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप में चाहे, उस रूप का करे—चाहे वह राक्षस बनावे, चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिए बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं; क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहता है, और न हमारे लिए कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को प्रायः विवेक से कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाये तो यह भय नहीं रहता, पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं।

कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोषों को कितना परख लेते हैं, पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसन्धान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हंसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग, थोड़ी चतुराई या साहस—ये ही दो चार बातें किसी में

देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान का वचन है—“विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाये उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।” विश्वासपात्र मित्र जीवन की एक औषधि है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोष और त्रुटियों से हमें बचायेगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करें, जब हम कुमार्ग पर पैर रखेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साहित होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे। सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता से उत्तम से उत्तम वैद्य की—सी निपुणता और परख होती है, अच्छी से अच्छी माता का सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही मित्रता करने का प्रयत्न पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावास में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ पड़ती है। पीछे के जो स्नेह—बन्धन होते हैं, उसमें न तो उतनी उमंग रहती है, न उतनी खिन्नता। बाल—मैत्री में जो मनन करने वाला आनन्द होता है, जो हृदय को बेधने वाली ईर्ष्या होती है, वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है, कैसा अपार विश्वास होता है। हृदय के कैसे—कैसे उदगार निकलते हैं। वर्तमान कैसा अनन्दमय दिखायी पड़ता है और भविष्य के सम्बन्ध में कैसी लुभाने वाली कल्पनाएँ मन में रहती हैं। कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना—मनाना होता है। सहपाठी की मित्रता इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल—पुथल का भाव भरा हुआ है। किन्तु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शान्त और गम्भीर

होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करने होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुन्दर प्रतिमा, मनभावनी चाल और स्वच्छन्द प्रकृति ये ही दो-चार बातें देखकर मित्रता की जाती है। पर जीवन-संग्राम में साथ देने वाले मित्रों में इनसे कुछ अधिक बातें चाहिए। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें, पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायें, पर भीतर-ही-भीतर घृणा करते रहे ? मित्र सच्चे पथ-प्रदर्शक के समान होना चाहिए, जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें, भाई के समान होना चाहिए, जिसे हम अपना प्रीति-पात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए। ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे।

मित्रता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक ही रूचि के हो। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक या वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शान्त प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यन्त प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई भी बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रूचि के लोगों में ही मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं, जो गुण हममें नहीं हैं हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले, जिसमें वे गुण हों। चिन्ताशील मनुष्य प्रफुल्लित चित्त का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चन्द्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिए

चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति—विशारद अकबर मन बहलाने के लिए बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बताया गया है—“उच्च और महान कार्य में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर का काम कर जाओ।” यह कर्तव्य उस से पूरा होगा जो दृढ़—चित्त और सत्य—संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिए। जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हो। मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिससे हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें, और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा।

जो बात ऊपर मित्रों के सम्बन्ध में कही गयी है, वही जान—पहचान वालों के सम्बन्ध में भी ठीक है। जान—पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हो, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनन्दमय करने में कुछ सहायता दे सकते हो, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है, उसमें खोने के लिए समय नहीं। यदि क, ख, और ग हमारे लिए कुछ कर सकते हैं, न कोई बुद्धिमानी या विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं, न सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बंधा सकते हैं, हमारे आनन्द में सम्मिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रखें। हमें अपने चारों ओर जड़ मूर्तियाँ सजाना नहीं है।

आजकल जान—पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके

साथ थियेटर देखने जायेंगे, नाच रंग में आयेंगे, सैर—सपाटे में जायेंगे, भोजन का निमन्त्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान—पहचान के लोगों से कुछ हानि न होती तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा। यदि ये जान—पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकले जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकले जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, गलियों में ठट्टा मारते हैं और सिगरेट का धुआं उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनन्द से कोसों दूर है। उनके लिए न तो संसार में सुन्दर और मनोहर उक्ति वाले कवि हुए हैं और न संसार में सुन्दर आचरण वाले महात्मा हुए है। उनके लिए न तो बड़े—बड़े बीर अद्भुत कर्म कर गये हैं और न बड़े—बड़े ग्रन्थकार ऐस विचार छोड़ गये हैं जिनसे मनुष्य जाति के हृदय में सात्विकता की उमंगे उठती हैं। उनके लिए फूल—पत्तियों में कोई सौन्दर्य नहीं। झरना के कल—कल में मधुर संगीत नहीं, अनन्त सागर तरंगों में गम्भीर रहस्यों का आभास नहीं उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न और पुरुषार्थ का आनन्द नहीं, उनके भाग्य से सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शान्ति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इन्द्रिय—विषयों में ही लिप्त है; जिनका हृदय नीचाशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित हैं, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन—दिन अन्धकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायेगा ? उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए।

मकदूनिया का बादशाह डेमोट्रियस कभी—कभी राज्य का सब का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस—पांच साथियों को लेकर विषय वासना में लिप्त रहा करता था। एक बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिए गया और उसने एक हंसमुख जवान



को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुंचा तब डेमेट्रियस ने कहा—ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है। पिता ने कहा— हाँ! ठीक है वह दरवाजे पर मुझे मिला था।

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा-पुरुष की संगति यदि बुरी होगी तो वह उसके पैरों में बंधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन-दिन अवनति के गड्ढे में गिराती जायेगी और यदि अच्छी होगी तो सहारा देने वाली बाहु के समान होगी जो उसे निरन्तर उन्नति की ओर उठाती जायेगी।

इंग्लैण्ड के एक विद्वान को युवावस्था में राज-दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस पर जिन्दगी भर वह अपने भाग्य को सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगति में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते।

बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है; क्योंकि उतने ही बीच में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहिए, चित्त पर ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सभी लोग जानते हैं, कि भद्रे व फूहड़ गीत जितनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गम्भीर या अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पायी थी, जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता है कि ने आये, पर बार-बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर रखना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते वे बार-बार हृदय में उठती हैं और

बेधती है। अतः तुम पूरी चौकसी रखो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातों से तुम्हें हँसाना चाहे। सावधान रहो ऐसा ना हो कि पहले-पहले तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा। अथवा तुम्हारे चरित्र-बल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकने वाले आगे चलकर आप सुधर जायेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है। तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे-धीरे उन बुरी बातों में अभ्यस्त होते-होते तुम्हारी घृणा कम हो जायेगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी; क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है! तुम्हारा विवेक कुण्ठित हो जायेगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायेगी। अन्त में होते-होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे; अतः हृदय को उज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यही पुरानी कहावत है कि—

“काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,

एक लीक काजर की, लागिहै, पै लागिहै।”

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को किसी सभा-सोसाइटी में जाने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छी सोसाइटी यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और इससे आत्मसंस्कार होता है। सोसाइटी में सम्मिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक बुद्धि तीव्र होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। हम अपने साथियों के साथ मिलकर बढ़ना सीखते हैं। इसी प्रकार हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिए कुछ स्वार्थ त्याग करना, सद्गुणों का आदर करना और सदाचरण की प्रशंसा करना सीखते हैं। आत्मसंस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहारकी अवहेलना न करनी चाहिए जो भले

आदमियों के समाज में आवश्यक समझा जाता है। बड़ों के प्रति सम्मान और सरलता का व्यवहार, बराबर वालों से प्रसन्नता का व्यवहार और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भले मानुसों के लक्षण हैं।

.....